

❀ ओ३म् ❀

# ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्व्यानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृताय्यभाषाभ्यां समन्विता

अजमेरनगरे  
वैदिक-यन्त्रालये मुद्रिता

मुद्र्यन्त्याः १,६७,२६,४६,०७१

दयानन्दजन्माब्दः १४६

संवत् २०२७ विक्रमीय

ई० सन् १९७०

दशमवार

५०००

मूल्य

अजिल्द रु. ४.५० पै.

सजिल्द रु. ५.५० पै.

प्रकाशक—

वैदिक पुस्तकालय,

दयानन्द आश्रम, अजमेर ।

## सूचना

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस संस्करण में निम्न बातें कृपया ध्यान में रखिये—

१. [ ] ऐसे कोष्ठान्तर्गत पाठ अध्याहृत हैं अर्थात् ह० ले० वा संस्करण १ में नहीं हैं ।
२. जिन पर स्टार चिह्न हैं वे टिप्पणियां ग्रन्थ में पूर्व ही विद्यमान थीं । शेष बाद में दी गई हैं ।
३. जहां 'मूल में' ऐसा टिप्पणी के प्रारम्भ में लिखा हो वहां हस्तलेख और प्र० संस्करण से अभिप्राय है ।
४. प्रायः सब उद्धरण इन्वर्टेड कॉमाज में दे दिये गये हैं ।

—प्रकाशक

मुद्रक—

वैदिक यन्त्रालय,

अजमेर ।

# अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- विषय-सूचीपत्रम्

सं०	विषय	पृष्ठ से	पृष्ठ तक
१	ईश्वरप्रार्थनाविषयः	१	८
२	वेदोत्पत्तिविषयः	६	२६
३	वेदानां नित्यत्वविषयः	२७	४२
४	वेदविषयविचारः अस्यावयवभूतविषयाः—	४३	८४
५	विज्ञानकाण्डविषयः	४३	४७
६	कर्मकाण्डे मुख्यतया यज्ञविषयः	४७	६१
७	देवताविषयः	६१	७८
८	मोक्षमूलरविषयक खण्डनविषयः	७८	८४
९	वेदसंज्ञाविचारः	८५	९४
१०	ब्रह्मविद्याविषयः	९५	९८
११	वेदोक्तधर्मविषयः	९९	१२२
१२	सृष्टिविद्याविषयः	१२३	१४४
१३	सहस्रशीर्षेत्पारम्भ पुरुषसूक्तव्याख्याविषयः	१२५	१४२
१४	पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः	१४५	१४७
१५	आकर्षणानुकर्षणविषयः <sup>१</sup>	१४८	१५१
१६	प्रकाश्यप्रकाशकविषयः	१५२	१५४
१७	गणितविद्याविषयः	१५५	१५८
१८	प्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः	१५९	१६६
१९	उपासनाविषयः	१६७	१६७
२०	मुक्तिविषयः	१६८	२०६
२१	नौविमानादिविद्याविषयः	२०७	२१७
२२	तारविद्याविषयः	२१८	२१९
२३	वैद्यकशास्त्रमूलविषयः	२२०	२२०
२४	पुनर्जन्मविषयः	२२१	२२८
२५	विवाहविषयः	२२९	२३०
२६	नियोगविषयः	२३१	२३६
२७	राजप्रजाधर्मविषयः	२३७	२५६

सं०	विषय	पृष्ठ से	पृष्ठ तक
२८	वर्णाश्रमत्रिपय	२५७	२७०
२९	ब्रह्मचर्याश्रमविषय	२५८	२६२
३०	गृहाश्रमविषय	२६२	२६५
३१	वानप्रस्थाश्रमविषय	२६५	२६६
३२	संन्यासाश्रमविषय	२६६	२७०
३३	पञ्चमहायज्ञविषय	२७१	२८६
३४	अग्निहोत्रविषय	२७१	२७७
३५	पितृयज्ञविषय	२७७	२८४
३६	अतिवैश्वदेवविषय	२८४	२८८
३७	अतिथिपक्षविषय	२८८	२८८
३८	ग्रन्थप्रामाण्यप्रामाण्यविषय	३००	३३६
३९	उत्तमनिकृष्टप्रत्ययणानिषय	३००	३०४
४०	प्रजापतिदुहितो कथाविषय	३०४	३०८
४१	गीतमाश्रुत्ययो कथाविषय	३०८	३१०
४२	इन्द्रवज्रसुरकथाविषय	३१०	३१४
४३	देवासुरतटप्रामकथाविषय	३१५	३१६
४४	कश्यपगपादितीथरूपाविषय	३१६	३२६
४५	मृत्तिपूजानिषेधविषय	३२६	३३४
४६	नवग्रहमन्त्रविषय	३३४	३३६
४७	अधिकारानधिकारविषय	३४०	३४३
४८	पठनपाठनविषय	३४४	३५१
४९	भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषय	३५२	३७०
५०	महोदरकृतभाष्यसंश्लेषनमन्त्रययोग्यविषय	३५५	३७०
५१	प्रतिज्ञाविषय	३७१	३७३
५२	प्रश्नोत्तरविषय	३७४	३८२
५३	वैदिकप्रयोगविषय	३८३	३८४
५४	स्वरव्यञ्जनाविषय	३८५	३८८
५५	व्याकरणनियमविषय	३८७	४०३
५६	अलङ्कारभेदविषय	४०४	४०६
५७	ग्रन्थसङ्केतविषय	४०६	४१०



## अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजसि  
नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

तैत्तिरीय आरण्यके । नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं,  
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी ।  
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,  
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥  
कालरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले ।  
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥  
दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,  
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीनशरणा ।  
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽ-  
स्त्यनेनेद् भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥  
मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।  
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥  
संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् ।  
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥  
आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी ।  
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥  
येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः ।  
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥  
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः ।  
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( सह नाव० ) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, ( सह नौ भु० ) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें, ( सह वी० ) हे कृपानिधि ! आपके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, ( तेजस्वि० ) और हे प्रकाशमय सत्र विद्या के देने वाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब ससार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, ( मा निद्रिषा० ) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वृत्तें। ( ओ शान्ति० ) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोग के तीन ताप—एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों से होता है, और तीसरा 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और बज्रलना से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये, जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें। यही आपसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिना के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

( ब्रह्मानन्त० ) जो ब्रह्म अनन्त आदि विरोपणा से युक्त है, जिसकी वेद निशा सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूँ ॥ १ ॥

( कालरा० ) विक्रम के सन् १६३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥

( दयाया० ) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥

( मनुष्ये० ) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूँ ॥ ४ ॥

( सस्कृतप्रा० ) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक सस्कृत और दूसरी प्राकृत । इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ ॥ ५ ॥

( आर्याणा० ) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उनकी जो व्याख्याशीलि है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ॥ ६ ॥

( चेनाद्यु० ) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अर्थ के वने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषा के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायेंगे ॥ ७ ॥

( सत्यार्थश्च० ) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूँ, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो, यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

यजुर्वेदे । अध्याये ३० मन्त्रः ३ ॥

भाष्यम्—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद ! ( देव ) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! ( सवितः ) हे सकलजगदुत्पादक ! ( नः ) अस्माकम् ( विश्वानि ) सर्वाणि ( दुरितानि ) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च ( परा सुव ) दूरे गमय, ( यद्भद्रं ) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति ( तन्नः ) अस्मभ्यं ( आ सुव ) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय ।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणालुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपा-कटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेद-भाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्यो३म् ॥ [ १ ] ॥

भाषार्थ—हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्त-सामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! ( देव ) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आत्माओं के देने वाले हो, ( सवितः ) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमान् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, ( नः ) हमारे ( विश्वानि ) सब जो ( दुरितानि ) दुःख हैं उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप ( परासुव ) दूर कर दीजिये, अर्थात् हम से उन को और हम को उनसे सदा दूर रखिये, ( यद्भद्रं ) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये । सो सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्य विद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते

हैं और जिसमें ये दोनों सुग होते हैं उसी को भद्र कहते हैं (तत्र आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये।

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें कि जिससे इस वेद-भाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुग में पूरा हो। इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, शुद्धि, सच्चनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे। इस भद्रस्वरूप सुग को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये, जिस कृपा के सामर्थ्य में हम लोग सत्य विद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुग से विधान करें। सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो, और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धा सहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो। इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भूमिं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।

स्वर्गस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥

यस्य स्वर्गश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।

अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुराक्षिंसोऽर्भवन् ।

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

अथर्ववेद महितायाम् । काण्डे १० । प्रपाठके २३ । अनुवाके ४ [ सूक्ते ८ ] म० १ ।

[ तथा मूत्रे ७ मन्त्र ] ३२ । ३३ । ३४ ॥

भाष्यम्—( यो भूतं च० ) यो भूतमविष्यद्वर्तमानान् कालान् ( सर्वं यश्चाधि० ) सर्वं जगत्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति । ( स्वर्ग० ) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, ( तस्मै ज्ये० ) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः ॥ १ ॥

( यस्य भू० ) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थविज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, ( अन्तरिक्षमु० ) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं स्वर्गरश्मि-प्रकाशमपमाकाशं दिवं भूर्धानं दिशोवचक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

( यस्य सू० ) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥

( यस्य वातः० ) वातः समाष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, ( अङ्गिरसः ) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना इति' निरुक्ते अ० ३ । ख० १७ ॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविधाय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यो भूतं० ) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, ( च ) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्तमान है, ( मध्यं च ) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, ( सर्वं यश्चाधितिष्ठति ) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, ( स्वर्गस्य च केवलं ) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, ( तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो । जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥

( यस्य भूमिः प्रमा० ) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, ( अन्तरिक्षमुतोदरम् ) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, ( दिवं यश्चके मूर्धानम् ) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्य-लोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है, ( तस्मै ) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥

( यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र० ) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को बारंबार नये नये रचता है, ( अग्निं यश्चक्र आस्यम् ) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, ( तस्मै० ) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥

( यस्य वातः प्राणापानौ ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाई किया है, ( चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ) तथा जो प्रकाश करने वाली किरण हैं वे चक्षु की नाई जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप-ग्रहण होता है, ( दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त० )

और जिम्मे दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते ग्रशिपुं यस्य देवाः ।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कर्म देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

यजु० अ० २५ । म० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोपधयुः  
शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः  
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ ६ ॥

यतो-यतः समीहमे ततो नो अर्भयं कुरु ।

शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽर्भयं नः पशुभ्यः ॥ ७ ॥

यजु० अ० ३६ । म० १७, २२ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंश्च यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभारिवाराः ।

यस्मिंश्चित्तत्सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ८ ॥

यजु० अ० ३४ । म० ५ ॥

भाष्यम्—( य आत्मदाः ) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, ( बलदाः )

यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, ( यस्य० ) यं विश्वे-  
देवाः सर्वे विद्वांसो उपासते यस्यानुशाननं च मन्यन्ते, ( यस्याद्याया० ) यस्याश्रय  
एव मोक्षोऽस्ति, यस्याच्छायाऽऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, ( कस्मै० )  
तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्यं कस्तस्मै हविषा विधेमेति' । गतपथब्राह्मणे । काण्डे ७  
अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं  
तस्यैवोपासनं कुर्यामहि ॥ ५ ॥

( द्यौः शान्तिः० ) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च  
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमोपधयो वनस्पतयो विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म  
वेदः मम जगदात्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु । अनुकूलं भवतु  
नः । येन वयं वेदभार्य्य सुखेन विदधीमहि । हे भगवन् ! एतया सर्वशान्त्या  
विद्यायुद्धिविज्ञानारोग्यमर्षोत्तमसहायैर्ममान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं  
जगद्य ॥ ६ ॥

( यतो य० ) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात्त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्था

चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम । ( शन्नः कु० ) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥७॥

( यस्मिन्नु० ) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, ( यस्मिन्धि० ) यस्मिन् प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगण-वत्प्रोतमस्ति । कस्यां क इव ! रथनाभौ अरा इव । तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाशयेत । हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मनुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यते । अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कार्यं सिद्धं भवेत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( च आत्मदाः० ) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है, जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिसका आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देने वाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उनको नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्चता है, उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है, ( कर्म० ) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥

( द्यौः शान्तिः० ) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आपकी भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुख-दायक हो, तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है

ये मय सुख देने वाले हमको सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे हम वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन् ! हम मय शान्ति से हमको विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से यदाइये ॥ ६ ॥

(यतो य०) हे परमेश्वर ! आप जिस जिस देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस उस देश से भय से रहित करिये, अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चिन् भी भय न हो, (शन्नकुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उनसे भी हम को भयरहित करें, तथा हम से उनको सुख हो, और उनसे भी हम से भय न हो, तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन मय से जो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों, जिसमें मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥

(यस्मिन्नुचः) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजुषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी, ये सब जिसमें स्थित होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिन्नि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो मय गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं, और जैसे रथ के पहिये के घीब भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं, ऐसा जो मेरा मन है सो आपकी कृपा से शुद्ध हो, तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो। जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें जिससे हम लोग मित्रों से सदा अलग रहें, और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को संपूर्ण प्रजा के आपके बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उसको जगत् में सदा के लिये यदावत्, और हम भाष्य को देव के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम मय लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों। इसलिये हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से मदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सब का उपकार करने वाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्ध हो प्राप्त हो ॥ [ ८ ]

इतीश्वरप्रार्थनान्तिपय ॥



# अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

यजु० अ० ३१ । म० ७ ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । [ सू० ७ ] । म० २० ।

**भाष्यम्**—( तस्माद्यज्ञात्स० ) तस्मात्पञ्चाङ्गादिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः ( ऋचः ) ऋग्वेदः, ( यजुः ) यजुर्वेदः, ( सामानि ) सामवेदः, ( छन्दांसि ) अथर्ववेदश्च ( जज्ञिरे ) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । 'यज्ञो वै विष्णुः' शं० कां० १ । अ० १ [ ब्रा० २ । कं० १३ ] । 'इदं विष्णुर्विचक्रमे ब्रूया निवधे पदम् ।' यजु० [ अ० ५ । मन्त्र १५ ॥ ] इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥

( यस्मादृचो० ) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः ( अपातक्षन् ) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः ( यजुः ) यजुर्वेदः ( अपाकषन् ) प्रादुर्भूतोऽस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः ( आङ्गिरसः ) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विदेवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः । अस्योत्तरम्—( स्कम्भं तं० ) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥

एवं वा ओऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः  
सामवेदोऽयर्वाङ्गिरसः ॥ ३ ॥ श० रा० १४ । अ० ५ । [ शा० ४ । क० १० ] ॥

अभ्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिप्रेदति—हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि  
बृहत् परमेश्वरस्यैव मन्त्राणाद्येवादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वामवत्महजतया  
निःसृतमस्मीति चेदम् । यथा श्रीराज्ज्वामो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्व-  
रादं दानो प्रादुर्भाषतिनेमायां भवति इति निश्चयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति  
का विषय लिखा जाता है, कि वेद क्रिमे उत्पन्न किये हैं । ( तस्मान् यज्ञात्स० ) सत्  
क्रिमेरा कभी नाश नहीं होता, चिन् जो सदा ज्ञानरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी  
कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखरूप और सच जो सुख देने वाला है, इत्यादि  
लक्षणों से युक्त पुरुष जो सच जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना  
के योग्य दृष्टेय और मन सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से ( श्रुचः ) ऋग्वेद ( यजुः )  
यजुर्वेद ( सामानि ) सामवेद और ( छन्दांसि ) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद  
उत्पन्न हुए हैं । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें और वेदोक्त  
रीति से ही चरें । 'अङ्गिरे' और 'अजायत' इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद  
अनेक विभागों में युक्त हो गेमा जाना जाता है । वैसे ही 'तस्मान्' इन दोनों पदों के  
अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी  
मनुष्य से नहीं । वेदों में मन मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर 'छन्दांसि' इस पद  
के फलने में चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है । शतपथ आदि  
ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द में 'विष्णु' का  
और विष्णु शब्द में सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सच  
ज्ञान की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥

( यज्ञादयो अपा० ) जो सर्वज्ञानिमान् परमेश्वर है, उसी से ( श्रुचः ) ऋग्वेद  
( यजुः ) यजुर्वेद ( सामानि ) सामवेद ( अङ्गिरस ) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं ।  
इसी प्रकार रूपालङ्कार में वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे  
मुख की समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद धाण  
की नाई है । ( म हि कन्मःस्त्रिदेव स ) कि चारों वेद क्रिमे उत्पन्न हुए हैं सो कीनमा  
देव है, उसको तुम मुझमें कहो ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—( रुक्मं तं० ) जो सब  
जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका नाम रुक्म है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता  
जानो, और यह भी जानो कि उससे छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा

कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥

( एवं वा अरेऽस्य० ) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी परिदृष्टता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आके फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है, और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, वीजाङ्कुरवत् । जैसे वीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी वीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार ये वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इससे इनको नित्य ही जानना ॥ ३ ॥

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति ?

अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्क्यमुपपद्यते । कुतः ? मुखप्राणादि साधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम् । योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति, न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्वर्चितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति ? कुतः, वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्पि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ।

भाषार्थ—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

इसका यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के बिना मुख का काम और प्राणादि के बिना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के बिना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं ।

और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं। तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब

कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग बिना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते वैसे ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् जो बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता?

ननु जगद्वचने तु सत्त्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि मामर्ध्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनत्वं स्यादिति ?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि मामर्ध्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं सिद्धिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तत्रथा—रूपचित्मन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्यात्प्राप्तस्य भरणं न स्यात्। यथा तस्य किंचिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुमन्मृष्टिर्भवति। तथैवादिमृष्टिमारभ्याऽपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा मर्ममनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ?

भाषार्थ—प्र०—जगत् के रचने में तो ईश्वर के बिना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है ?

उ०—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनसे पढ़ने के पञ्चान् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है। उसके पढ़ने और ज्ञान से बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुन के और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रख के उससे अन्न और जल युक्ति में देखे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका भरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रखे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को बिना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की भाँई उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के बिना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो क्या क्या ही कहनी है ? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम् । ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तत्र सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुक्त्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति ?

एवं प्राप्ते वदामहे—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम् ? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति ? तस्मात् किमागतम् ? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति । यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षा-वश्यं भवति । किञ्च, न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासी-त्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत् । मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात् । स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च ।

यचोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम् । तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात् । चतुर्वत् । यथा चतुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चिकरमस्ति । तथान्येषां विदुषापीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चिकरमेव भवतीति ।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता । और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्यापुस्तकों को भी रच लेंगे, पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?

उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उप-देश जो वेद है, उनके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थविद्या नहीं होती । इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता । जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि

ज्ञानों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं। वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अशक्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने का बुद्ध भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था उस समय ईश्वर के मन्त्रों वेदोपदेश के बिना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता ? क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है। और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है।

और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्वया है, क्योंकि यह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के बिना आत्मा से कुछ भी नहीं देखा पड़ता तथा आत्मा के संयोग के बिना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु यह स्वाभाविक ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता में कभी नहीं हो सकता।

**वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?**

उच्यते—वेदानामनुत्पादने गतु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु ययं न जानीमः । मन्यमेवमेतत् । तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ? अस्ति । सा किमर्थस्ति ? स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ? करोति तेन किम् ? तेनेदमस्ति, विद्या स्वार्था परार्था च भवति तम्यास्तद्विषयत्वान् ।

यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्याच्चदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात् । तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता मंपादिता । परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति पितृवत् । यथा पिता स्वमन्त्रं प्रति मर्द्वं करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपा मर्ममनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपनर्कः । अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षविद्यया विना परमानन्द एव न स्यात् । यथा कृपाय-माणेनेश्वरेण प्रजामुत्तार्थं वन्दमूलफलवृणादिकं रचितं, य कथं न सर्वसुखप्रसाशिकां मर्मविद्यामप्यै वेदविद्यामुपदिशेत् ? निश्च ब्रह्माण्डस्योत्कृष्टमर्मपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तमुत्तम्य महत्तमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः ।

**मापार्थ—प्र०—**वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ?

उ०—मैं तुमसे पूछता हूँ कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें। प्र०—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं। उ०—है। प्र०—सो उस की विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है। इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना।

जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करने वाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता ? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख से हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या पदार्थ जो वेद है उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता ? इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ।

अत्रोच्यते—अहह ! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्ययवैः काष्ठलोष्टादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि । किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः । किं तर्हि ? ज्ञानमध्ये प्रेरिताः । केपाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम् । ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ? मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन् ।

कृतः जडे ज्ञानकार्यामम्भवात् । यत्रार्थासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति । अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते । तथैवात्रापि विज्ञायताम् । विद्याप्रकाशमंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति । अत्र प्रमाणम्—

तेभ्यस्ततेभ्यस्त्वयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोऽर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥

ग० वा० ११ । म० ५ । [ वा० २ । कं० ३ ] ॥

एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः । सत्यमेवमेतत् । परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते ?

मैव विज्ञायि । ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम् ? वेदप्रकाशकम् । तदीश्वरस्य वा तेषाम् ? ईश्वरस्यैव । पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्चैरच ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः । पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ? निश्चयकरणार्था ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी, स्याही और दवात आदि साधन कहाँ से लिये, क्योंकि उस समय मैं कागज आदि पदार्थ तो घने ही न थे ?

उ०—वाह वाह वाह जी । आपने बड़ी शङ्का करी, आपकी बुद्धि की क्या स्तुति करें । अन्धा आपसे मैं पूछता हूँ कि हाथ पग आदि अङ्गों से तथा बिना काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से बिना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ आदि अवयवों से बिना उमने सन जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के बिना रचा है, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं । परन्तु इसके उत्तर में हम बात को जानो कि वेदों की पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे । प्र०—तो किस प्रकार से किये थे ? उ०—ज्ञान के बीच में । प्र०—जिनके ज्ञान में ? उ०—अग्नि, वायु, आदित्य और अद्विरा के । प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं ? उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है, और जहाँ जहाँ असम्भव होता है वहाँ वहाँ लक्षणा होती है । जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि 'लेतों में मञ्चान पुकारते हैं' इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहाँ भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं । इसमें 'तेभ्यः०' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है । उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था ।



प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ?

उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था ?

प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका ? उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आपसे मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके ? उ०—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी ? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ? न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामिव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति ?

अत्राह—अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः ? न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्—तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति।

किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?

अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ? उ०—न्यायकारी। प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया, क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है ?

उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया।

प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनका पूर्वपुण्य कहां से आया ?

उ०—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारणजगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं। इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?

इयं कुतः शङ्काभूतः ? किमीदृशस्य गायत्र्यादिचन्द्रोरचनज्ञानं नास्ति ?  
अस्त्येव तस्य सर्वविधायत्तात् । अतो निर्मूलं सा शङ्कास्ति ।

चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदाः निर्मापयितेत्यैतिह्यम् ?

मैत्रेयवाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावः । 'आप्रोपदेशः शब्दः ॥' न्याय-  
शास्त्रे अ० १ सू० ७ ॥ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । 'शब्दोऽपि ह्यस्ति' इति च ॥ [न्याय-  
अ० २ । आह्निकं २ । सू० २ ॥] अस्त्येवोपरि 'आप्तं खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टमर्थस्य  
चित्वापयिषया प्रयुक्त उपदेशः, साक्षात्करणमर्थशक्तिस्तथा प्रवर्तन इत्याप्तः' [न्याय-  
अ० १ आह्निकं १ । सू० ७] इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैति-  
ह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीत-  
मिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिमिग्वच वेदा रचिता इत्याद्यपि  
मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेरचेति ।

भाषार्थः—प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है ?

उ०—यह शङ्का आपको कहां से हुई ? प्र०—मैं तुम से पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि  
छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ? उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है । अञ्छा तो  
ईश्वर के समस्त त्रिगुण्युक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है ?

प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग  
सुनते हैं ।

उ०—ऐसा मत कबो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है ।  
( आप्तो० ) भयान् सत्यवादा विद्वानां का जो उपदेश है उसको शब्दप्रमाण में गिनते हैं,  
ऐसा न्यायदर्शन में शास्त्राचार्य न लिखता है । तथा शब्दप्रमाण में जो युक्त है वही इतिहास  
मानने के योग्य है, अन्य नहीं । इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण  
कहा है कि—जो मास्त्रान् सत्र पदार्थविशेषों का जानने वाला, कपट आदि दोषों से  
रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानो और सत्यकारी है, जिसने पूर्ण  
त्रिगुण आत्मा में निमग्न प्रज्ञा का ज्ञान है उसके कहने का शब्दों की प्रेरणा से  
सब मनुष्यों पर कृपादि से सब सुख होने के लिये मन्त्र उपदेश का करने वाला है,  
और जो पृथिवी में लेने परमेश्वर पयोन सत्र पदार्थों को यथावत् मास्त्रान् करना  
और उसी के अनुसार वर्तना इसी का नाम आप्त है, इस आप्त में जो युक्त हो उसको  
'आप्त' कहते हैं । उसी के उपदेश या प्रमाण होता है, इसमें विपरीत मनुष्य का  
नहीं, क्योंकि सत्यवृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं । सत्यप्रमाणयुक्त  
जो इतिहास है, वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है । इससे विपरीत  
इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने

का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है, इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रखे हैं। और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्वचनमिति कुतो न स्यात् ?

मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । 'यो वै ब्रह्माणं' विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च ग्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य [ अ० ६ । श्लो० १८ ] विद्यमानत्वात् । एवं यदर्वीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात् । तद्यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ १ ॥ अ० १ । [ श्लो० २३ ] ॥

अध्यापयामास पितृन् शिशुराज्जिरसः कविः ॥ [ २ ] अ० २ । [ श्लो० १५१ ] ॥

इति मनुसाक्ष्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशात् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा !

भाषार्थ—अ०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?

उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि—'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं।' इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्तमान था। इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि—'पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अज्जिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था।' जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है !

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ?

अर्थयथात् । ( विद् ) ज्ञाने, ( विद् ) सत्तायाम्, ( विद् ) लामे, ( विद् ) विचारणे, एतन्म्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्ध्वप्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा ( श्रु ) श्रवणे, इत्यस्माद्वातोः करणकारके 'क्तिन्' प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते । विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति मयं मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैरेषु वा तथा विद्वोमश्च भवन्ति ते 'वेदाः' । तथाऽऽदिमुष्टिमारभ्याश्रयन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः मन्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः' । न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशत्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान् । कुतः ? निरक्षयवैश्वराक्षेपां प्रादूर्भावात् । अग्निनाप्यादित्याद्विरमस्तु निमिचीभूता वेदप्रकाशार्धमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । वेदेषु श्रुत्यर्थमन्मन्वाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यामन्वात् । अतः किं सिद्धम् ? अग्निनायुरव्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिवेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम् ।

भाषार्थ—प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उ०—अर्थभेद से । क्योंकि एक ( विद् ) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा ( विद् ) मत्तार्थ है, तीसरे ( विद् ) का लाभ अर्थ है, चौथे ( विद् ) का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'वच्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है । तथा ( श्रु ) धातु श्रवण अर्थ में है, इसमें करणकारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है । जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से मनुष्यों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक मन्यामत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इसमें ऋक्षमंहितादि का 'वेद' नाम है । वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे मनुष्यविद्याओं को सुनने आते हैं इसमें वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है । क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को माक्षान कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, और उनको सुनने सुनाने ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं । यथा अग्नि वायु आदित्य और अद्विरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादिर को बोई बजारे वा काठ की पुतली को चेष्टा कराये, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान में वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई । किन्तु इसमें यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और मन्मन्व हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ।

वेदानामुत्पत्तौ क्रियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोटयोऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि । सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति ।

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह—अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तत्राथा—स्वायम्भवः, स्वारोचिष, औत्तमि, स्तामसो, रैवत,—श्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्ततिश्चतुर्गुणानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशशुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं १००० चतुर्गुणानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्मद्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसञ्ज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसञ्ज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशच्चमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति । अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥

चत्वार्यष्टौः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।

तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।

एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥

यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्गुगम् ।

एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ४ ॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥

मन्वन्तराप्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च ।

क्रीडन्निवैतत्कुले परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥

मनु० अध्याय १ [ श्लो० ६८-७३, ७६, ८० ] ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः सञ्ज्ञा क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्याप्तं सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसञ्ज्ञा क्रियते । अत्रैवं मङ्गल्यातव्यम्—

एकं दश शतं चैव सहस्रमुतं तथा ।

लक्षं च निष्ठुतं चैव कोटिरर्धुदमेव च ॥ १ ॥

वृन्दः एवौ निखर्बश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । -

अन्त्यं मध्यं पराद्वयं च दशवृद्धया यथाक्रमम् ॥ २ ॥

इति धर्ममिद्वान्तादिषु मङ्गल्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । 'मन्वन्तरस्य प्रमामि सहस्रस्य प्रतिमामि' ॥ य० अ० १५ । स० ६५ ॥ 'मर्षं वै सहस्रं मर्षस्य वातामि' ॥ श० कां० ७ । अ० ५ । [ ब्रा० २ । क० १३ ॥ ] मर्षस्य जगतः सर्गमिति नामास्ति । कालस्य चानेन महत्समहायुगमस्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिप्रेदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽख्यैः क्षणमारम्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमत्रपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थं सर्वमनुष्ठेयं स्वीकर्तुं योग्यास्ति, नान्येति निश्चयः । कुतोह्यार्यैर्नित्यम् 'ओं तन्मत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहराद्धं वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकमंत्रमरापनतु मामपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽवेदं कृतं क्रियते च'

इत्याद्याल्लघुद्वैः प्रत्यहं विदितत्वादि तिहासस्यास्य सर्वत्राग्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्सर्व-  
त्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्या-  
ख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उ०—एक घृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नवसौ, छहत्तर अर्थात्  
( १६६०८५२६७६ ) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत्  
७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है ।

प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत  
गये हैं ।

उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें ( ७ ) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान  
है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं । स्वायम्भुव १, स्वरोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४,  
रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है, और  
सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे । ये सब मिलके १४ चौदह मन्वन्तर होते  
हैं । और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है । सो उसकी गणना  
इस प्रकार से है कि ( १७२८००० ) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम सतयुग  
रक्खा है । ( १२६६००० ) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता । ( ८६४००० )  
आठ लाख, चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और ( ४३२००० ) चार लाख बत्तीस  
हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है । तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके  
एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है । और इन चारों युगों के  
( ४३२०००० ) तियालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है ।  
एकहत्तर ( ७१ ) चतुर्युगियों के अर्थात् ( ३०६७२०००० ) तीस करोड़, सरसठ लाख,  
बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे ऐसे छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात्  
( १८४०३२०००० ) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए, और  
सातवें मन्वन्तर के भोग में यह ( २८ ) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है । इस चतुर्युगी में  
कलियुग के ( ४६७६ ) चार हजार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और  
बाकी ( ४२७०२४ ) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है ।  
जानना चाहिये कि ( १२०५३२६७६ ) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नवसौ,  
छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और ( १८६१८७०२४ ) अठारह करोड़,  
एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं । इनमें से यह  
वर्त्तमान वर्ष ( ७७ ) सतहत्तरवां है, जिसको आर्य लोग विक्रम का ( १६३३ ) उन्नीस सौ  
तेतीसवां संवत् कहते हैं ।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा  
रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रिसंज्ञा जानना चाहिये । सो सृष्टि की





निर्माण करने वाले हो। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं, अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य लोग नित्यप्रति 'ओं तत् सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्य्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बहीखाते की नाईं लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है—  
( श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे ० )।

यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इसके भोग में यह ( २५ ) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १६३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है, इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिति डालते हैं वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं। और यही इतिहास आज पर्यन्त सब आर्यावर्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिति बार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक ठीक आर्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग ही बड़े बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया, और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इनमें भी मिति से मिति बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो, सो यह श्रद्धा

उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने ठका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है, यह शोक की बात है। और ठके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यो हुई है, इसकी व्याख्या आगे करते, वहां देर लेना चाहिये, यहां इसका प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्युरोपाख्यरूपदृश्यैर्मनुष्य-  
रचितो वेदोऽस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यद्युक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदक-  
त्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्।  
तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि—वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है ( २४०० ) चौदीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई ( २६०० ) उनतीस सौ वर्ष, कोई ( ३००० ) तीन हजार वर्ष और कोई कहता है ( ३१०० ) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए होते हैं, उनकी यह भी बात मूर्खी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संरूप्य पठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचार है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता। इससे यह जानना अनस्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या मिद्ध हुआ कि जिन जिन ने अपनी अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के निषय में किया है, उन उन का भी व्याख्यान मिथ्या है। क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जय पर्यन्त हजार चतुर्गुणी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वर के वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः

# अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्देवानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्व-  
सामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

भाषार्थ—अब वेद के नित्यत्व का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से  
उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य  
ही है।

अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वाभित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः  
कार्यत्वात् । घटवत् । यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि । तस्माच्छब्दानित्यत्वे  
वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम् ।

मैवं मन्यताम् । शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः  
शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति । येऽस्मदादीनां वर्चन्ते ते तु  
कार्यार्थच । कुतः ? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्व साम-  
र्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तद्विद्यामयत्वाद्देवानामनित्यत्वं नैव घटते ।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में  
शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते । जैसे बिना बनाने से  
घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा । क्योंकि बनाने के  
पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक  
नहीं है ।

उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक  
नित्य और दूसरा कार्य । इनमें से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे  
सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य होते हैं ।  
क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य  
भी नित्य ही होता है । इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर  
की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती ।

किं च भोः ! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूल-  
कार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते ?

अत्रोच्यते—इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे च,  
नेतरस्मिन् । अतःकारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं कथं मन्यामहे । किं च,

न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु श्रद्धाक्षरार्थसंबन्धाः सन्ति तथैव पूर्वभासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः, ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अत एवेद-  
मुक्तमृगवेदे—

‘सूर्याचन्द्रमसौ घाता यथापूर्वमकल्पयत्’ इति । [ ऋ० १० । १९० । ३ ] ॥

अस्यापरमर्थः—सूर्याचन्द्रग्रहणयुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पं सूर्याचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये द्वासीचैव तेनास्मिन्कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिभयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यं, वेदानां तेनैव स्वविधातः सृष्टत्वात् ।

मापार्थ—प्र०—जब सब जगत् के परमात्मा अलग अलग होके कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानने हो ?

उ०—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती, क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी, कागज, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं । यह जो प्रतीतिगतादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है । और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं । इसने क्या मिथ हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे ईश्वरकृत न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं । सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं ।

जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में ये और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बना रहती है । उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता । सो श्रुतवेद से लेके चारों वेदों की महिमा अब जिस प्रकार की है कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती । इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यार्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते ।  
तत्राह महामाध्यकारः पतञ्जलिमुनिः—

‘नित्याः शब्दाः नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिर्भविर्भूतव्यमनपायोप-  
जनविकारिमिरिति ।’

इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति । तथा—

‘श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।’

इदम् ‘अडण्’ सूत्रभाष्ये चोक्तमिति । अस्यायमर्थः—

वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कुतः ? शब्दानां मध्ये  
कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः ।  
अपायो लोपो निष्पत्तिग्रहणम्, उपजन आगमः, विकार आदेशः, एते न विद्यन्ते  
येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ।

भाषार्थ—यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इसमें व्याकरणादि शास्त्रों का  
प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं । इनमें से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और  
भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है । उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि  
और पतञ्जलि हैं । उनका ऐसा मत है कि—सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में  
जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर  
विचलते भी नहीं, उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता ।’ तथा कान से सुन के  
जिनका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से  
प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं ।’  
इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक  
कहाते हैं, वे भी सब नित्य ही होते हैं । क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी  
और अचल हैं, तथा इन में लोप आगम और विकार नहीं बन सकते, इस कारण से  
पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं ।

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते ?

इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः—

‘सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीण्यस्य पाणिनेः ।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥’

[ महा० घ० १ । पा० १ । आ० ५ ]

‘दाधा ध्रुदाप्’ [ अ० । १ । १ । १६ ] इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् ।

अस्यायमर्थः—

सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्त-

राणां स्थानेष्वन्ये शब्दमंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा—वेदपार । गम् । ड । सुँ । भू ।  
 शप् । तिप् । इत्येनस्य वाक्यममुदायस्य स्थाने 'वेदपारगोऽभवत्' इतीदं समुदायान्तरं  
 प्रयुज्यते । अस्मिन् प्रयुक्तममुदाये 'गम् ड सुँ शप् तिप्' इत्येतेषाम् अम् ड् उँ-  
 श् प् इ प् इत्येतेऽप्यन्तीनि केषांचिद् बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति । कुतः ?  
 शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणान् । नैव शब्दस्यैकदेशपाय एकदेशोपजन  
 एकदेशविकारिणि मति दाक्षीण्यस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं  
 भवत्यतः । तथैवाडागमो, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारं वैयं संगतिः कार्येति ।

( श्रोत्रोपलब्धिरिति ) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं  
 योग्य, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो, यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्तते, स शब्दो  
 भवतीति घोष्यम् । अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते ।  
 कथम् ? उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रवृत्तित्वात् । 'एकैकवर्णवर्तिनी  
 वाक्' इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते, अतस्तस्या  
 एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति ।

भाषार्थ—प्र०—गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम  
 और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि—शब्दों के समुदायों  
 के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है । जैसे 'वेदपार गम् ड सुँ  
 भू शप् तिप्' इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर का  
 प्रयोग किया जाता है । इसमें किसी पुष्प की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इ  
 प् इन की निवृत्ति हो जाती है, सो उसकी बुद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय  
 के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं । सो यह मन दाक्षी के पुत्र  
 पाणिनिमुनिजी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं । सो मत इस  
 प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की  
 क्रिया है उस के क्षणमग्न होने से अनित्य गिनी जाती है, इसमें शब्द अनित्य नहीं होते,  
 क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्षे वर्षे के प्रति अन्य अन्य होती जाती है ।  
 परन्तु शब्द तो मदा अपरहण पदरस ही बने रहते हैं ।

ननु च मोः ! शब्दोऽप्युपस्तागतो भवति । उच्चारित उपागच्छति, अनुच्चा-  
 रितोऽनागतो भवति, वाक्क्रियावत् । पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत् ?

अत्रोच्यते—नासाग्रम् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिच्यक्तिर्भवति,

किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च । तद्यथा, गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे, यावदौकारे, न तावद्विसर्जनीये । एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायो-पजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात् । यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः । अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानामिति ।

**भाषार्थ—**प्र० - शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट हो जाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारण क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है । फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ?

उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारण-क्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते । जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं । जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारण क्रिया गकार में रहती है, तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती । इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं । किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता । इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं । जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्—

‘नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्’ ॥

पूर्वमीमांसा प्र० १ । पा० १ । सू० १८ ॥

**अस्यायमर्थः—**‘तु’ शब्देनानित्यशङ्का निवार्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योस्ति, कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थ-त्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत् संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते । पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ।

**भाषार्थ—**इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है—[ ( नित्यस्तु० ) ]

शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है, उसका 'तु' शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं, अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जनने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है, फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण बारंबार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य है। जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह—

‘तद्वचनादाप्तायस्य प्रामाण्यम् ॥’ वैशेषिके प्र० १ । [ पा० १ ] सू० ३ ॥

अस्यायमर्थः—तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्वर्त्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तन्वाद्याम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है—( तद्वचना० ) वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें मत्तविद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है, इसमें उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गौतममुनिरप्यत्राह—

‘मन्त्रापुरवेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥’

[ न्याय० ] प्र० २ । पा० १ । सू० ६३ ॥

अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम् । कुतः ? आप्तप्रामाण्यात् । धर्मात्मभिः कपटद्वलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापाठमहायोगिमिः नवैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः । किंन ? मन्त्रापुरवेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां मन्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चापुरवेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्वन्नम्यापि भागम्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणैतस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदमागम्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम् ।

एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम्—



“द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः  
प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यबद्धेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति ।  
नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् ।”

अस्यायमभिप्रायः—यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथा-  
प्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् ।  
अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ।

भाषार्थ—वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं,  
( मन्त्रायु० ) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज  
पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं । उन  
आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये । क्योंकि ‘आप्त’ लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा,  
कपट झल्लादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, सहायोगी और सब मनुष्यों के सुख  
होने के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार  
नहीं होता । उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को  
बनाया है । जैसे आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने  
से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से  
उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब  
मनुष्यों को उचित है । क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से  
उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, कि जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य  
प्रमाण अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता ।

( मन्त्रायु० ) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना  
स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं, वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और  
जानने वाले हैं । जो जो उस उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद  
आदि के बनाने वाले हैं । जैसे उनका कथन आयुर्वेद में सत्य है, वैसे ही वेदों के  
नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है, ऐसा मानना चाहिये ।  
क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी  
जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण  
अवश्य ही करना चाहिये ।

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह—

‘स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥’

पातञ्जलयोगशास्त्रे प्र० १ । पा० १ । सू० २६ ॥

यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानाम-  
स्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति । गृणाति  
वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स ‘गुरुः’ । स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेर-  
प्रचारत्वात् । न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो-  
भवति । यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्देदानामपि  
सत्यार्थवत्त्वानित्यत्वे चेद्ये इति ।

भाषार्थ—इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य  
मानते हैं, ( स एष० ) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा, और ब्रह्मादि पुरुष  
सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने-  
वाले हैं, इन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने  
से परमेश्वर का नाम गुरु है । सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की  
गति का प्रचार ही नहीं है, और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी  
वासनाओं के भोगों से अलग है । जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है,  
उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों  
को जानना चाहिये ।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्यत्राह—

‘निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥’ सू० ५१ ॥

अस्यापमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात्  
प्रकटत्वात्स्वतः प्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्ये इति ।

भाषार्थ—इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं—( निज० )  
परमेश्वर की ( निज ) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का  
नित्यत्व और स्वतः प्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये ।

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—

‘शास्त्रयोनित्वात् ॥’ प्र० १ । पा० १ । सू० ३ ॥

अस्यापमर्थः—ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीप-  
वत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीटशस्य शास्त्रस्य-  
ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं

शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्योदेज्ञैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति [प्र]सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । अतः किमागतं, सर्वज्ञ-स्वैश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति ।

अन्यच्च तस्मिन्नेवाध्याये—

‘अत एव च नित्यत्वम् ॥’ पा० ३ । सू० २६ ॥

अस्यायमर्थः—अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्व-विद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्धयर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किन्त्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात्, सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽन्याँश्च पर्वतादीन् प्रसरेण्वन्तान्पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, ( शास्त्र० ) इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानके व्याख्यान किया है कि—‘ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं । उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता । किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है । जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है । उनमें विद्या के एक एक देश का प्रकाश किया है । सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं । और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है । किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने, विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं ऐसा शङ्कराचार्य ने भी कहा है । इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य लोगों की साक्षी है । और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उसके किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं । अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता ।

( अत एव० ) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं, और सब सज्जन

लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है। तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेकर उसरेणु पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वेद भी सत्यप्रकाश हैं और सब सत्यविद्या का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अन एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च मिद्धिकरं प्रमाणमाह—

‘स पर्यगाच्छुक्रमेष्टायभेदप्रणभेस्ताविरश्नुद्धमपापविद्धम् । कृमिर्मेनीपी  
परिभूः स्वयंभूषीथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्रुतीभ्यः समाभ्यः ॥’

यजु० ३० ४० म० ८ ॥

अस्यायमभिप्रायः—यः पूर्वाक्तः सर्वव्यापकत्वादिनिशेषणयुक्त ईश्वरोऽस्ति, ( स पर्यगात् ) परितः भर्तुः शान्तिं गतवान् प्राप्तवानस्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, ( शुक्रम् ) तद्ब्रह्म भर्तृजगत्कर्तृवीर्य्यजनन्तलवदस्ति, ( अशायम् ) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, ( अत्रणम् ) नैवैतन्मिद्विद्वद् कर्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अत एव छेदरहितत्वात्क्षतम्, ( अस्ताविरम् ) तन्नाडी-सम्बन्धरहितत्वाद्गन्धनाशरणप्रमुक्तम्, ( शुद्धम् ) तदग्निशब्दोपेभ्यः सर्वदा पृथग्भूतमानम्, ( अपापविद्धम् ) नैव तत्पापयुक्त पापकारि च कदाचिद्व्रति, ( कृमिः ) भर्तृहः, ( मनीषी ) यः सर्वेषां मनमामीषी माक्षी ज्ञातास्ति, ( परिभूः ) सर्वेषामुपरि निराजमानः ( स्वयभूः ) यो निमित्तोपादानमाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नक्षस्य कश्चिन् जनकः स्वमामर्त्येन मह्यं भद्रं वर्तमानोऽस्ति, ( शाश्वतीभ्यः ) य एव भूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा ( सः ) सर्गादौ स्वकी-याम्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराम्यः ( समाभ्यः ) प्रजाभ्यो ( याथातथ्यतः ) पर्यायव्यरूपेण वेदोपदेशेन ( अर्थान् व्यदधात् ) विवक्षितानर्थोद्यता यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ भर्तृविद्याममन्वित वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति । अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदेवसर्ववर्तमानत्वात् ।

भाषार्थ—जैसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्थाव्र प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आपने लिखते हैं—( स पर्यगात् ) यह मन्त्र ईश्वर और उसके किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो परमेश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है, उसकी व्याप्ति से एक परमाणु

भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म ( शुक्लम् ) सब जगत् का करने वाला और अनन्तविद्यादि बल से युक्त है, ( अकायम् ) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, ( अव्रणम् ) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, ( अस्नाविरम् ) वह नाडियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाडियों में बंधा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, ( शुद्धम् ) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, ( अपापविद्धम् ) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, ( कविः ) जो सब का जानने वाला है, ( मनीषी ) जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, ( परिभूः ) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, ( स्वयंभूः ) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सब का माता पिता है, और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, ( शाश्वतीभ्यः० ) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्तमान है, उसके सब सुखों के लिये, ( अर्थान् व्यवधात् ) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब तब प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब जब सृष्टि का प्रलय होता है तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि ।  
तद्यथा—

‘नास्त आत्मलाभो, न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति’ इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम् । कुतः ? यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखा-दयः संभवितुमर्हन्ति, बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवेच्चैतदा बन्ध्यात्वं न सिध्येत्, स नास्ति चेतुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत् कथमुपदिशेत् ? स नोपदिशेच्चैनैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निमूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निमूलमृत्युपन्नं किञ्चिद् दृश्यते ।

यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाशयते—यस्य प्रत्यक्षो-ऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा—येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो

भरति, नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते [तस्य] तस्या एव संस्कारो भरति, नातोऽन्यथा । एव सृष्ट्यादासीयरोपदेशाऽभ्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कृतः स्मरणम् ? न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोऽपि कस्यचिद्वितुर्महति ।

भाषार्थ—जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि 'असत् से सत् का होना अर्थात् अभाय से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाय भी नहीं हो सकता । जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है, और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती ।' इस न्याय से भी वेदा को नित्य ही मानना ठीक है । क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी ढाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि ब्रह्म्या के पुत्र का विवाह मैं देता, यह उसकी बात असम्भव है, क्योंकि जो उसने पुत्र होता तो वह ब्रह्म्या ही क्यों होती, और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं ? वैसे ही जब ईश्वर में अतन्त्रविद्या है, तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है । और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता, और वह जगत् को भी कैसे रख सकता ? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, क्यों कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है । इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप धृत रिस्तृत हुआ है ।

इस में और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी का दृष्टान्त देते हैं—देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में सारगार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होता है, अन्यथा नहीं । जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है उस के मन में उसी का सारगार होता है, अन्य भाषा का नहीं, और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उस को देशभाषा का सारगार होता है, अन्य का नहीं । इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता । इस युक्ति से कष्ट जाना जाता है कि ईश्वर उपदेश से वेदों को सुन पढ़ और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का सारगार आज पर्यन्त होता चला आया है, अन्यथा कभी नहीं हो सकता ।

किं च भोः । मनुष्याणां स्वामारिर्की या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानु-

भवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थं- मीश्वराद् वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति ?

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एतद् वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्, तत्रैष निर्णयः—यथा नेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्, अशिक्षितबालकवनस्थवत् । यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः, पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा ? तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता, सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात् ।

यन्नित्यं वस्तु वर्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भितुमर्हति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद् भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पृशोऽपि भवति-। अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

‘सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥’ वक्ष्येपिके अ० ४ [ आ० १ ] सू० १ ॥

अस्यायमर्थः—यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति, तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यच्च कस्यापि कार्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति, तन्नित्यं कथ्यते ।

यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति । कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं, नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तत्स्यात्मा भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वाद्भिः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्तुमर्हति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगा-

न्तर्गतत्वाद्वास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेधरेऽपि भवेत् ।

अन्वयः—यतः संयोगवियोगारम्भो भवति स तस्मान् पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवं भूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्य-सामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्तमानत्वात्सत्यार्थ-वत्त्वं नित्यत्वं चेत्यामसीति सिद्धम् ।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

भाषार्थः—प्र०—मनुष्यों की रचना से जो चेष्टा है, उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे उत्तर उत्तर काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अपरव्यय होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे, फिर ईश्वर ने वेद रचे, ऐसा क्यों मानना ?

उ०—इसका समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है । यहां यही निर्णय किया है कि जैसे हम समय में अन्य विद्वानों से पढ़े बिना कोई भी विद्यायात्र नहीं होता और इसी के बिना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी तेरजने में नहीं आती, वैसे ही मृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के बिना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की वृद्धि की कभी नहीं हो सकती । इसमें अशिक्षित बालक और वनवासियों का उद्घाटन दिया था, कि जैसे हम बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता, तथा अन्धों प्रकार उपदेश के बिना उनको ठीक व्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता, फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है । इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आदि के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की वृद्धि करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उनके सभी गुण सत्य हैं । इसमें उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है ।

जो नित्य वस्तु है उसके नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं, क्योंकि उनका आधार नित्य है । और बिना आधार से नाम, गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं । जो अनित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं । जो नित्य किसको कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से प्रयुक्त है । तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग-विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना । और जब वे पृथक् पृथक् होंगे उन द्रव्यों के नियोग से जो कारण में उनकी परमाणुरूप अवस्था होती है, उसको विनाश कहते



हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं। फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है, तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते, इसका नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को ही 'नाश' कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है, उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं, और जो संयोग वियोग से अलग है उसकी न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है, क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको 'नित्य' कहते हैं। इसमें कणाद-मुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—

( सत्कार० ) जो किसी का कार्य है, कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उसको अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा होके वह नष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के विद्यमान होता है, फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं।

क्योंकि जो जो संयोग से उत्पन्न होता है सो सो बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म, नियम और कार्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किस ने बनाया है? इसी प्रकार यह अनवस्था प्रसंग अर्थात् मर्यादा रहित होता है। जिस की मर्यादा नहीं है, वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सव अवयवों में व्याप्त होता है, और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उसके कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है तथा उसका छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उनसे स्थूल होता तो उनका ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते। जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है, वह उसके संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरम्भ होता है वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का

कर्त्ता और आदिकारण होता है, तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, मत्सामर्थ्य से युक्त और अनन्तविद्यावाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सच मनुष्यों को मानना योग्य है। यह मन्त्रेय से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः



# अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात् । तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति । कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् । अत्र प्रमाणानि—

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥’

कठोपनि० बह्वी २ मं० १५ ॥

‘तस्य वाचकः प्रणवः’ ॥ योगशास्त्रे अ० १ । पा० १ । सू० २७ ॥

‘ओ३म् खं ब्रह्म ॥’ यजुः अ० ४० । [ मं० १७ ] ॥

‘ओमिति ब्रह्म ॥’ तैत्तिरीयारण्यके । प्र० ७ । अ० ८ ॥

‘तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ १ ॥

यत्तददृश्यमग्राह्यमगोप्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विशुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥’

मुण्डके १ । खण्डे १ । मं० ५-६ ॥

एषामर्थः—( सर्वे वेदाः० ) यत्परमं पदं मोक्षार्थं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति । ( तस्य० ) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति, वाच्यश्चेश्वरः । ( ओम्० ) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तेषांस्तपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नभ्या-

समाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते  
तुभ्यं मंत्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ।

( तत्रापरा० ) वेदेषु द्वे त्रिंशे वच्चेते, अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृण-  
मारम्भ प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते ।  
यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सका-  
शादत्युक्त्यास्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन कौन विषय  
हैं किस किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो  
अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—( १ ) एक विधान अर्थात् सत्य पदार्थों की यथार्थ  
ज्ञानता, ( २ ) दूसरा कर्म, ( ३ ) तीसरा उपासना, ( ४ ) चौथा ज्ञान है । 'विज्ञान'  
इमको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और  
परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद्व्योष का होना, उनमें यथावत् उपयोग का  
करना, इमसे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इमों में वेदों का मुख्य  
तात्पर्य है । सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी  
आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सत्य पदार्थों के  
गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन कौन पदार्थ  
किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं । और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है  
सो ही प्रधान है ।

इममें आगे कठयल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—( सर्वे वेदाः० ) परमपद  
अर्थात् तिमका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म की प्राप्ति होके भदा मुर में ही रहना, जो  
सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम  
( ओम् ) आदि हैं, उमों में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है । इसमें योगसूत्र, [ यजुर्वेद और  
तैत्तिरीय आरण्यक ] का भी प्रमाण है—( तस्य० ) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है ।  
( ओम् २० ) तथा ( ओमिति० ) ओम् और तम् ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं । और उसी की  
प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति  
उत्तम नहीं है, क्योंकि लग्न का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म  
को ही प्रकाशित करने हैं, तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप कहते हैं, वे भी  
परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम  
के मत्वाचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस  
ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते  
हैं । नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः ! जो  
अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता

हूँ । और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकाररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये ।

( तत्रापरा० ) वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूरी परा । इनमें से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है । यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है ।

अन्यच्च—

‘तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥’

ऋग्वेदे । अष्टके १ अध्याये २ वर्गे ७ मन्त्रः ५ ॥

अस्यायमर्थः—यत् ( विष्णोः ) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, ( परमं ) प्रकृष्टा-नन्दस्वरूपं, ( पदं ) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षारूपमस्ति, तत् ( सूरयः ) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत् ? ( आततम् ) आसमन्तात्तत् विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिव ? ( दिवीव चक्षुराततम् ) दिवि मार्चण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति । अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति ।

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह—

‘तत्तु समन्वयात् ॥’ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥

अस्यायमर्थः—तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च । अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति । तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्—

‘यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया सशरणास्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥’

य० अ० ८ । मं० ३६ ॥

एतस्यार्थः—( यस्मात् [ न ] ) नैव परब्रह्मणः सकाशात् ( परः ) उत्तमः पदार्थः ( जातः ) प्रादुर्भूतः प्रकटः ( अन्यः ) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति, ( प्रजापतिः ) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति, प्रजापालकत्वात्, ( य आविवेश भु० ) यः परमे-

धरः ( मित्रा ) मित्रानि सर्वाणि ( भुवनानि ) सर्वलोकान् ( आविवेश ) व्याप्त-  
वानस्ति, ( सश्रराणः ) सर्वाणिम्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् ( त्रीणि ज्योती-  
न्पि ) त्रीण्यग्निर्घृयविशुद्धारण्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि ( प्रजया ) ज्योतिषोऽन्यया  
सृष्ट्या सह तानि ( मचते ) समवेतानि करोति, कृतगानस्ति, ( सः ) अतः स  
एवेधरः ( षोडशी ) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा  
तस्मात्तम षोडशीत्युच्यते । अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः ।

‘ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥’

इदं भाष्यवचनपरिचयवचनमस्ति ॥

अस्यायमर्थः—ओमित्येतत्प्रस्य नामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचि-  
द्यद्यराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्म वास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्ववेदादिभिः  
शास्त्रैः सरुलेन जगता बोधगतं व्याख्यानं गुरुर्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयो-  
ऽस्तीत्यवधार्यम् । किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । ‘प्रधाना-  
प्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्यय’ इति व्याकरणमहामाष्यवचनप्रामाण्यात् ।  
एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे गुरुर्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव  
सर्व उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरैरेव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां  
पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथाव-  
त्कर्तव्यमिति ।

भाषार्थ—और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि—( तद्वि० ) ।  
( मित्रा ) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका ( परम ) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप  
( पद ) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको ( सूर्य ) विद्वान्  
लोक ( सदा परपन्ति ) सत्र काल में देखते हैं । वह कैसा है कि सत्र में व्याप्त हो रहा  
है और उस में देश काल और वस्तु का भेद नहीं है, अर्थात् उस देश में है और इस देश  
में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में  
नहीं, इसी कारण से वह पद सत्र जगत् में सबको प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब  
ठिकाने परिपूर्ण है । इसमें यह दृष्टान्त है कि ( दिव्यो चतुराततम् ) जैसे सूर्य का प्रकाश  
आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त  
होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी सूर्यप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है । उस पद  
की प्राप्ति स कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है । इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के  
लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं ।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—( तत्तु सम-  
न्ययात् ) । सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं कहीं

साक्षात् रूप और कहीं कहीं परम्परा से। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।

तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि—( यस्मान्न जा० ) जिस परब्रह्म से ( अन्यः ) दूसरा कोई भी ( परः ) उत्तम पदार्थ ( जातः ) प्रकट ( नास्ति ) अर्थात् नहीं है, ( य आविवेश भु० ) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है, ( प्रजापतिः प्र० ) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिसने ( त्रीणि ज्योतिर्वि ) अग्नि, सूर्य और बिजली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये ( सचते ) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम ( षोडशी ) है, अर्थात् ( १ ) ईश्वरा, जो यथार्थ विचार ( २ ) प्राण, जो कि सब विश्व का धारण करने वाला ( ३ ) ब्रह्मा, सत्य में विश्वास ( ४ ) आकाश ( ५ ) वायु ( ६ ) अग्नि ( ७ ) जल ( ८ ) पृथिवी ( ९ ) इन्द्रिय ( १० ) मन, अर्थात् ज्ञान ( ११ ) अन्न ( १२ ) वीर्य, अर्थात् बल और पराक्रम ( १३ ) तप, अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार ( १४ ) मन्त्र, अर्थात् वेदविद्या ( १५ ) कर्म, अर्थात् सब चेष्टा ( १६ ) नाम, अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रओपनिषद् के ६ ऊठे प्रश्न में लिखा है।

इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है, और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति । नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः । कुतः ? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात् । स चानेकविधोऽस्ति । परं तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः— एकः परमपुरुषार्थसिद्धयर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते । अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मोपार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते ।

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते । अस्य खल्वनन्तमुखेन योगात् । यदा चार्थकामफलसिद्धयवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति । अस्य जन्म-मरणफलभोगेन युक्तत्वात् ।

॥ अग्निहोत्रमारभ्याश्चमेघपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टीरोगनाशकगुणैर्षु तस्य मम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमनौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत् सुखकार्यैव भवति । यं च भोजनाच्छादनपातकला-  
कौशल्यन्त्रमामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव  
भरति ।

भाषार्थ—उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है । जिसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार । अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कदा उसमें परमेश्वर की ( स्तुति ) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन, उपदेश और श्रवण करना, ( प्रार्थना ) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, ( उपासना ) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथान्तर्पालन करना । जो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये । तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना । इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथान्तर् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है । और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है ।

तो इस भेद को इस प्रकार में जानना कि जय मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहा जाता है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती । इसी कारण से इसका फल अक्षय्य है । और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम कहते हैं । इस हेतु से इसका फल नाशवान् होता है, क्योंकि मद्य कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त होके जन्म मरण से नहीं छूट सकता ।

अग्निहोत्र में लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है—एक सुगन्धगुणयुक्त, जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त, जो कि गुड़ और सहव आदि कहते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त, जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं । इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है । इसमें भय जगत् को सुख होता है । और त्रिमको भोजन, छादन, विमानादि



यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है—

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्—

‘द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥’

अ० ४ । पा० ३ । सू० १ ॥

‘द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥’

अ० ४ । पा० ३ । सू० ५ ॥

अनयोरर्थः—द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परसुचमो-  
त्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः । यथा घृपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं  
चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं स्रपपात्रे प्रवेशय तन्मुखं बद्ध्वा  
प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः  
सन् सर्वं स्रपं सुगन्धमेव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति, तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो  
जायते स वायुं घृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अतश्चोक्तम्—

‘यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं बिद्वान् होता भवति ॥’

ऐ० ब्रा० पं० १ । अ० २ । [ खं० १ ] ॥

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण  
बिद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति । कुतः ? तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः  
परोपकारायैव भवति । अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय  
भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव  
क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ।

भाषार्थ—इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है—(द्रव्य०) एक  
तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बात  
यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहिये । सो पूर्वांक्ष सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के  
द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उप-  
कार होता है । जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को  
चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस  
सुगन्ध द्रव्य और घी के बराबर उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और  
रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाग्य उठता है, वह भी वायु और

घृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगन् को सुख करता है, इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है।

इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि ( यज्ञोऽपि त० ) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है, और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगन् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का ध्येयनाद\* यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगन् में आनन्द को यदाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये। सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं।

अत्र प्रमाणम्—

‘जग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् घृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥’ ग० वा० ५। अ० ३। [ छा० ५। क० १७ ] ॥

अस्यायमभिप्रायः—अग्नेः मफानाद्धूमवाष्पौ जायेते। यदाऽयमग्निर्वृक्षौ-  
पधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिन्न तेभ्यो रसं च पृथक् करोति,  
पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाष्पाधारेणोपर्याकारं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसा-  
गस्तानतो वाष्पमञ्ज्वास्ति। यथ निःस्नेहो भागः स घृथिव्यंशोऽस्ति। अत एवो-  
भयमागधुक्तो धूम इत्युपचर्य्यते। पुनर्धूममनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति।  
तस्मादभ्रं घना जायन्ते। तेभ्यो वायुदलेभ्यो घृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यचाद्रप  
ओपधयो जायन्ते। ताभ्योऽक्षमन्नाद्वीर्यं वीर्याञ्जरीराणि भवन्तीति।

भाषार्थ—इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि—( अग्ने० ) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुआँ और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न भिन्न कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उनसे घृष्टि, घृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से घातु, घातुओं में शरीर और शरीर से कर्म बनता है।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्व्युक्तम्—

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥’

छानन्दवल्गा<sup>२</sup> प्रथमेऽनुवाके ॥

‘स तपोऽतप्यत[स]तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात्’ अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यमि-  
संविशन्तीति ॥’ भृगुवल्गां द्वितीयेऽनुवाके ॥

अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते, जीवनस्य बृहद्भेदतत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति, नातोऽन्यथेति ।

भाषार्थ—इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि—( तस्माद्वा० ) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि; उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहाँ ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है । वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को ब्रह्म कहते हैं । जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख, और अशुद्ध होने से सबको दुःख होता है । इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सृष्ट्या निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्मान्जगतो रसानाकर्षति । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि यध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोऽपि गुणा यध्यमा एव जायन्ते । कुतः ? यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः ? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्य-

१. तै० उ० में उपलब्ध पाठ—ओषधिम्यो० । सं० ।

२. छानन्दवल्गा । सं० ।

३. तै० उ० में उपलब्ध पाठ—व्यजानात् । सं० ।

सृष्टयन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति, तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता मत्प्रभाषण-  
मेव कर्तव्यं नानृतमिति, यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्तते स पापीयान्मृत्वा क्लेशं चेश्वर-  
व्यवस्थया प्राप्नोति, तथा यज्ञः कर्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति, तामपि य  
उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान्मन् क्लेशवांश्च भवति ।

भाषार्थ—सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है—एक तो ईश्वर  
का किया हुआ, और दूसरा जीव का । उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने  
अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है । वह सूर्य निरन्तर  
सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर सँचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध  
है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है । परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और  
दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं । उस जल की वृष्टि से  
ओषधि, अन्न, धीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुण वाले हो जाते हैं और उनके योग  
से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निरूप ही होते हैं, क्योंकि  
जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है । यह दुर्गन्ध से वायु  
और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है । सो यह दोष ईश्वर की  
सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है । इस कारण से उसका निवारण  
करना भी मनुष्यों ही को उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की  
आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उल्टा काम करता है, वह  
अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है,  
यैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है, इसको जो नहीं करता, वह भी  
पापी होके दुःख का भागी होता है ।

कृतः मरौपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति  
तत्र तानानेन दुर्गन्धममुदायो जायते न वैरायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति ।  
कृतः ? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्र खलु मनुष्याः  
स्वसुखाय हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुन्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो  
मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्य-  
निमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्तुं मर्हन्ति ।

भाषार्थ—क्योंकि सबके उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों  
को दोष लगता है । जहाँ जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहाँ उतना  
ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है । वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि  
प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है । क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य

अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।

तेषां मध्यात्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचार-  
स्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो  
विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवना-  
नुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च  
कर्तुं मर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्तव्य एव ।

भाषार्थ—क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं, इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उन्नति होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः ! कस्तूर्यादीनां सुरभिषुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेप्येन विनाशात्  
कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किं त्वीदञ्चैरुचयैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजना-  
दिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ?

अत्रोच्यते—नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद् दृश्यं  
भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ?,  
अष्टविधं चेति । किंच तत् ?, अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्

॥ १ ॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोद्दष्टं च ॥ २ ॥

प्रसिद्धावर्मात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ । आह्निकम् १ । सू० ४-७ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं  
मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते

तत्प्रत्यक्षम् । सन्निरुद्धे दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनी ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुनं दृष्ट्वाऽऽमीदृश्यं पितृत्याद्युदाहरणम् ॥ २ ॥

उपमानं माह्व्यज्ञानं । यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साध-  
र्म्यादुपादिशतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ३ ॥

शब्दघटे प्रत्याप्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्या-  
द्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—प्र०—सुगन्धयुक्त लो वस्त्रा आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे उत्तम उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है, फिर यह करना किसलिये चाहिये ?

उ०—किन्हीं पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोग मात्र होता है । परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किमन्ते कहते हैं ? उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का । प्र०—कौन कौन सा ? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७ और अभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं ।

( इन्द्रियार्थ० ) इनमें से 'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्यग्बोध से मत्तज्ज्ञान उत्पन्न हो । जैसे दूर से देखने में सज्जह हुआ कि यह मनुष्य है वा पशु और फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य हा है अन्य नहीं, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥ १ ॥

( व्यय तत्त्व० ) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो वह 'अनुमान' कहा जाता है । जैसे किसी के मुख की देखने से ज्ञान होता है कि इनके माता पिता आदि हैं, वा अन्तर्य यं, इत्यादि उससे उदाहरण हैं ॥ २ ॥

( प्रसिद्ध० ) तीसरा 'उपमान' कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्म वाले का ज्ञान हो । जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है, उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उसके नाम जाके इस काम को कर ला । इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है, उसको उपमान कहते हैं ॥ ३ ॥

( आप्रोप० ) चौथा 'शब्द' प्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष व्ययों का निश्चय कराने वाला है । जैसे ज्ञान स मोक्ष होता है, यह आर्त्ता के उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

‘न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चा-  
प्रतिषेधः ॥ ६ ॥ अ० १२ । आ० २ । सू० ११ । २ ॥

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते—

( ऐतिह्यम् ) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ब्राह्मम् । देवासुराः संयत्ता आसन्नि-  
त्यादि ॥ ५ ॥

( अर्थापत्तिः ) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः । केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टि-  
र्भवतीति । किमत्र प्रसज्यते ? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥

( सम्भवः ) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः । केनचिदुक्तं मातापितृ-  
भ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम् । परन्तु कश्चिद् ब्रूयात्कुम्भकरणस्य  
क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं रमश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका  
चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥

( अभावः ) कोपि ब्रूयाद् घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्ती-  
त्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ [ ५ । ६ ]

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते ।  
सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

भाषार्थ—( ऐतिह्यम् ) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम  
इतिहास है । जैसा ‘देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे’ जो यह इतिहास  
ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का  
नहीं । यह पांचवां प्रमाण है ॥ ५ ॥

और छठा ( अर्थापत्तिः ), जो एक बात किसी ने कही हो उससे विरुद्ध दूसरी  
बात समझी जावे । जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है, दूसरे ने  
इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के बिना वृष्टि कभी नहीं हो सकती । इस  
प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥

सातवां ( संभवः ), जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों  
की उत्पत्ति होती है, तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है । परन्तु जो कोई  
ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूर्छ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी  
रहती थी, और उसकी नाक ( १६ ) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी, उसकी यह  
बात मिथ्या समझी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

और आठवां ( गमात्रः ), जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ, और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ [ ५।६ ]

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूँ। यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है। उ०—यह बात सत्य है कि इनके बिना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का मित्र नहीं हो सकता। इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतरुचूर्णाकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते। चक्षुषा दर्शनाभावात् '( णश ) अदर्शने' अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किंच यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्रूपं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियरूपात्। यद्रूपं विभक्तं विभागानहं भवति तस्य परमाणुमञ्ज्रा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्तन्त एव।

भाषार्थ—नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के बेले को पीस के वायु के घीच में बल से फेंकदे, फिर जैसे वे छोटे छोटे कण आँसु से नहीं दूरगने। क्योंकि ( णश ) धातु का अदर्शन ही अर्थ है। जब अणु अलग अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् यद्वा होता है, तब वह देखने में आता है। और परमाणु इमको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है। उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यदा तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से घरावर कटता ही चला जायगा।

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्तत एव। न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति। एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि द्रव्यमस्ति तत्राग्नौ हुतं तदायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकर भवति। तस्मिन्निदोषे सति सृष्टये महान्दुष्परागे भवति मुखं चातःकारणाग्रज्ञः कर्तव्य एवेति।

किंच भोः ! वायुशुष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणैतत्सत्त्वमिति, पुनः किमर्थमेतानानादम्बरः ?

\* कहीं कहीं शब्द में ऐतिहास और अनुमान में अर्थापत्ति समझ और अभाव को मानने का ( ४ ) चार प्रमाण रहन है।



नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्य-  
वकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं  
फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ—वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है; उसके  
अणु अलग अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव  
नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है ।  
फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख  
अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये ।

प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है, तो इस  
की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा  
परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ?

उ०—यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि अतर  
और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन  
करके बाहर नहीं निकाल सकता, और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में  
हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस  
ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के बिना दूसरे का प्रवेश नहीं  
हो सकता । फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी  
नहीं होते ।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते,  
तदाऽग्निना पूर्वं वायुर्मेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते  
सति तत्रावकाशात्वाच्चतसृष्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति । तेन गृहाकाशस्य  
पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

भाषार्थ—और जब अग्नि उस वायु को दहां से हलका करके निकाल देता है,  
तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है । इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता  
है, अन्य प्रकार से नहीं । क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित  
दुर्गन्धवायु को निकाल के, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करने वाला  
होता, और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं  
शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति । तद्द्वारौघ्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति

महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्सन्वन्निर्गमयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुम-  
शक्यमस्ति । तस्माद्गोमकारणवृत्तमयेव भवतीति निश्चेतव्यम् ।

भाषार्थ—जो वायु सुगन्धादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में बढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता, और उसमें वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अग्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के बिना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अन्यथा । दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव । अन्नं विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तत्रदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति । परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्तमानत्वाच्चैनं विज्ञायते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधवृत्तमं फलमस्ति, तद्विचारेण पुनर्विज्ञेयमिति ।

भाषार्थ—और भी सुगन्ध के नाम नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीतों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने में उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है, और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक इन्द्रिय में संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको भ्रमरूप जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इन में अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं, उनको बुद्धिमान लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति, तद्गोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते ?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् ? यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते ।

तत्पाठनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमे-  
तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वा-  
श्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेद-  
भवतीति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ—प्र०—होम करने का जो प्रयोजन होता है, फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है।  
उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है भी जानी जाती है कि जिससे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से हो। तथा उसमें जो ईंटों की वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उन के पढ़ने से वेद है। इस प्रकार से कि जब इतनी और उपासना होती है। तथा होम से जो जो फल हो। बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी, इत्यादि वेदमन्त्रों के बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी दी वा काष्ठ के पात्र इस कारण विवृत होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय, क्योंकि हैं वे बिगड़ते नहीं। और कुश कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उ और चिबटी आदि कोई जन्तु सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ला बनाने का यह प्रयोजन है कि वेद में कोई पक्षी किंवा उनकी का काम कभी नहीं हो सकता, यह करना चाहिये। इनसे भिन्न

कश्चिदब्राह्म—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य  
किं दूषणमस्तीति ?

अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येता चाहिये। परन्तु इस प्रकार से ईश्वरोक्ताभावाभिरतिशयसत्यविरहाच्च । यद्यदि पाप होता है, इत्यादि कल्पना तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत् कार्य अच्छा बने, वही करना बहिरिति च । अब्राह्म मन्त्राह—

‘त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो

मूर्त्ता देवता सर्वतो देवता रुद्रा

‘चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्ता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति

विभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । मां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि

तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् । कर्मकाण्डादिविधेयोतकृत्वात् ।

मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ तो, विश्वेदेवा, बृहस्पति, रिन्द्रो, दोष है ?

वत्तणदयेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते । तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतक-  
त्वात्परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ—प्र०—यह मैं देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है ?

उ०—जो जो वेद में कहे हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि—( अग्निर्देव० ) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहते हैं । और इन वेदमन्त्रों से ही सत्र विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन उन मन्त्रों का और उन उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सत्र अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्यों निरुक्ते—

‘कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥’ निर० अ० १ । ख० २ ॥

‘अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तदैवत-  
मित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्पितृणां देवतायामर्थपत्यमिच्छन्  
स्तुतिं प्रयुक्ते तदैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः  
प्रत्यक्षकृता आप्पात्मिक्यद्वय ॥’ निर० अ० ७ ख० १ ॥

अस्यार्थः ( कर्मम० ) कर्मणामग्निहोत्रायश्चमेवान्तानां शिष्यविद्यासाधनानां  
च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । तथा  
च कर्मणां संपत्तिर्भोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थरचाङ्गी-  
कार्यः ।

[ ( अथातो० ) ] अभेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते, यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां  
देवतानां क्रियते तदैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि तेषामर्थानां  
मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालङ्घानि गमन्ति । तद्यथा—

‘अग्निं द्रुतं पुरो दधे इव्यवाहृमुषं ब्रुवे । देवाँर ॥ आ सादियाद्रिह ॥

यजु० अ० २१ । म० १७ ॥

अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयं, यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र  
तत्र सल्लिङ्गो मन्त्रो प्राप्त इति । यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छब्दोऽस्ति तदेव  
दैवतमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति । यत्रोच्यते—

ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति । किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचो, यामिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति— परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोऽस्ति ताः परोक्षकृताः । यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः । आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति । एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ—( कर्मसं० ) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती, और कर्मकाण्ड को लेके सोक्षपर्यन्त सुख मिलता है, इसी हेतु से उनका नाम देवता है ।

( अथातो० ) दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो जो संज्ञा जिन जिन मन्त्रों में जिस जिस अर्थ की होती है उन उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है । जैसे 'अग्निं दूतं०' इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहाँ इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये । ऐसे ही जहाँ जहाँ मन्त्रों में जिस जिस शब्द का लेख है, वहाँ वहाँ उस उस मन्त्र को ही देवता समझना होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये । सो देवता शब्द से जिस जिस गुण से जो जो अर्थ लिये जाते हैं, सो सो निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है ।

इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस जिस अर्थ को जिस जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है । सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं । उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के, और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं । इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं । इसी कारण से इनका नाम देवता है ।

‘तथेऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा । यदेवतः स यज्ञो वा यज्ञार्जं वा तदेवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका, नाराशंसा इति नैरुक्ता, अपि वा, सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा, अस्ति ह्याचारो बहुलं

लोके, देवदेवत्वमनिधिदेवत्वं, पितृदेवत्वं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति ॥'

निर० ४० ७ । म० ४ ॥

( तत्रेऽनादि० ) तत्रेऽन्नादि० खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा, अर्थात् विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थी मा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपत्तिः कास्तीत्युच्यते—यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाद् वैश्वेनदेवतात्प्राप्तमिति विज्ञायते । ये खलु यज्ञादन्वयः प्रपुञ्जन्ते ते नैव प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं यादिका मन्यन्ते । अत्रैव निरूप्योऽस्ति—नारायणा मनुष्यमिषया इति नैरुक्ता भूयन्ति । तथा या कामना मा कामदेवता भवतीति नरकामा लौकिका जना जानन्ति । एवं देवतानिश्चयस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति । कश्चिद् देवत्वं नैव भावदेवत्वं, पित्रदेवत्वमिति धिदेवत्वं, पितृदेवत्वं चैतेऽपि पृथ्याः मत्कर्त्तव्याः गन्धर्वमन्त्रेषां गुणकार्त्तव्यमात्रमेव देवतात्प्रमर्शति विज्ञायते । मन्त्रास्तु खलु यत्रमिद्वये मृत्युहेतुग्राह्यदेवता एव सन्तीति निश्चीयते ।

भाषार्थ—जिन जिन मन्त्रों में सामान्य अर्थों में जहाँ जहाँ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दोग पड़ता, वहाँ वहाँ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है । ( अग्निमीडे० ) इस मन्त्र में भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिया है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र में लेके अथमथ पर्यन्त, दूसरा प्रवृत्ति में लेके शृंगिणी पर्यन्त जगन् का रचनत्वं तथा मित्रपत्न्या, और तीसरा सत्त्वज्ञ आदि से जो विज्ञान और योगरूप प्राप्त है, ये ही उन मन्त्रों में देवता जानना चाहिये । तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है, वे भी उन यज्ञों के देवता हैं । और जो इनसे मित्र मन्त्र हैं उनमें प्राजापत्य अर्थों परमेश्वर ही देवता हैं । तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता हैं । इस में बहुत प्रकार के विवरण हैं कि वहाँ पूर्वोक्त देवता कहाँ हैं, कहीं याज्ञि नैव, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पित्रान्, कहीं अनिधि और कहीं आचार्य नैव कहाँ हैं । परन्तु इस में इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं ।

अत्र परिगणनम् । गायत्र्यादिन्द्रोन्विता, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाद् श्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, पित्रान्, अनिधिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति धर्मगण्डादीन्मन्त्रेणा देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरादेव याज्ञदैवतो भवत इति निश्चयः ।

भाषार्थ—जो जो गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर को आता, यज्ञ और उनके अङ्ग अर्थात् भाष्यन, प्राजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य,

काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने अपने दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च—

‘देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा ॥’

निरु० अ० ७ । खं० १५ ॥

‘मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् ॥’ निरु० अ० ७ । खं० १२ ॥

अस्यार्थः—( देवो दानात् ) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, ( दीपनात् ) दीपनं प्रकाशनम्, [( द्योतनात् )] द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्यादयो, द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च । [( द्युस्थानो )] तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः । प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम्—

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥’

ब.ठ० बत्ली ५ । मं० १५ ॥

तत्र नैव परमेश्वरे सूर्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्थानतन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति । अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम् ।

भाषार्थः—( देवो दाना० ) दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना । दीपन कहते हैं प्रकाश करने को । द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को । इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रखे हैं । तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं । ( दीपन ) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम भी देव है । [( द्योतन )] तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं । वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं । इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि—

‘सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर से प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है । क्योंकि परमेश्वर के

प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है।' इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है।

‘नैनदेवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ॥’ य० अ० ४० । म० ४ ॥

अत्र देवशब्देन मनःपट्टानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । तेषां शब्दस्पर्श-  
रूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा  
देवता, ‘देवात्तल’ [ अष्टा० १५।४।२७॥ ] इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे ‘तल’ विधानात् ।  
स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति । यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः  
सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा, अपमसिः प्रहृतः सन्नतीयच्छेदनं  
करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वज्राभ्यमानोऽपि न वृट्पतीत्यादि गुणकथनमतो  
निपरीतोऽमिनैव तत् कचुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ।

भाषार्थ—( नैनदेवा० ) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है ।  
जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन, वे छः देव कहाते हैं । क्योंकि शब्द,  
स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है । और  
देव शब्द से स्मार्थ में ‘तल’, प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है । जो जो गुण जिस-  
जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, उन उन गुणों का लेकर, उपवेश, श्रवण और विज्ञान  
करना तथा मनुष्य सृष्टि के गुण दोषों का भी लेकर आदि करना इसको ‘स्तुति’ कहते हैं ।  
क्योंकि जितना जितना जिस जिस में गुण है उतना उतना उस में देवपन है । इससे वे  
किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट  
करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इसकी धार बहुत तेज है, और यह धनुष के समान  
नमाने से भी नहीं टूटती, इत्यादि तलवार के गुण कथन को स्तुति कहते हैं ।

तद्वदन्यत्रापि निज्ञेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति । उपासना-  
ज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् ?  
तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यद्य तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टनिपयभोगप्राप्तये  
परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्देवो भवति । परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि  
भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति ।

भाषार्थ—इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना । इस नियम के साथ कि केवल  
परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा  
और उपासना करने के योग्य है । क्योंकि गुण वे कहाते हैं, जिनसे कर्मकाण्डादि में  
उपकार लेना होता है । परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग प्राप्ति के लिये परमेश्वर



का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम्—

‘माहाभाग्यादेवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मान् आत्मजन्मान् आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्चा’  
आत्मायुधमात्मेष्व आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥’

निरु० अ० ७ । सं० ४ ॥

( माहाभाग्यादेव० ) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः आत्मनो माहाभाग्यादर्थ्यात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषण-  
वत्त्वात् । न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति । कुतः ? सर्वेषु  
वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्रन्यासस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना  
विहितास्ति । अस्मादन्ये ये देहा उक्ता वक्ष्यन्ते च । ते सर्व एकस्यात्मनः परमे-  
श्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति । अङ्गमङ्गं प्रत्यश्चंतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकै-  
कस्मिन्देहे प्रकाशिताः सन्ति । ते च ( कर्मज० ) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्म-  
जन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति । अथै-  
तेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम् । स एवाश्वा गमनहेतवः । स  
आयुधं विजयावहमिषयो वाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य  
देवस्य सर्वस्वमस्ति । अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी  
वर्तते । नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम् ।

भाषार्थ—इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना  
कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है । इसका निश्चय  
वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण,  
उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं । इन का जन्म, कर्म  
और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है । और इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा  
अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु,  
और इषु अर्थात् जो वाण के समान सब दुष्टगुणों का छेदन करने वाला शस्त्र है, सो एक  
परमेश्वर ही है । क्योंकि परमेश्वर ने जिस जिस में जितना जितना दिव्यगुण रक्खा है  
उतना उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल  
परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति का देने वाला है ।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्—

‘ये त्रिंशति त्र्यम्स्रो देवास्तो बहिरासदन् । विदमर्ह द्वितासनन् ॥ १ ॥’

अ० अ० ६ । अ० २ । व० ३५ । म० १ ॥

‘त्रयोस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्पन्त्रजापतिः परमेष्ठयथिपतिरासीत् ॥ २ ॥’

य० अ० १४ । म० ३१ ॥

‘यस्य त्र्यंस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।

निधिं तमद्य को बद्धं यं देवा अभिरक्षन् ॥ ३ ॥

यस्य त्र्यंस्त्रिंशद् देवा अक्ने गात्रा विमेजिरे ।

तान्यै त्र्यंस्त्रिंशद् देवानेकै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥’

अपर्व० १० । १० प्रपा० ७३ । अनु० ४ । म० २३, २७ ॥ [—१० । ७ । २१, २७ ]

‘स होवाच महिमान एवैषामेते त्र्यंस्त्रिंशत्स्वैव देवा इति । कतमे ते त्र्यंस्त्रिंशदित्यष्टौ पश्य एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्र्यंस्त्रिंशत्पाति ॥ ५ ॥

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ६ ॥

कतमे रुद्रा इति ? दशमे पुरुषे प्राणा, आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ७ ॥

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्वैव आदित्याः । एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ८ ॥

कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? सप्तयित्पुत्रेवेन्द्रो, यत्रः प्रजापतिरिति । कतम सप्तयित्पुत्रित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥ ९ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा

इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽप्यर्थ इति ?  
योऽयं पवत इति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्यमेक एव पवतेऽथ कथमप्यर्थ इति ? यदस्मिन्निदं सर्व-  
मध्याघ्नोत्तेनाध्यर्थ इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यादित्याचक्षते  
॥ ११ ॥ श० का० १४ । अ० ६ । [ आ० ६ । कं० ] ३-७, ६, १० ॥

अथैषामर्थः—वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् ।  
शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः, एकादश  
रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति ।

तत्र ( वसवः )—अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः,  
चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्यलोकस्तस्य  
प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव । ( कुत  
एते वसव इति ) यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति ।  
किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य  
जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् ।

( एकादश रुद्राः )—ये पुरुषेऽस्मिन्देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः,  
उदानः, नागः, कूर्मः, कुकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा, एकादशम  
आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा ? इत्यत्राह—यदा  
यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं  
मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति । यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः  
सन्तीति विज्ञेयम् ।

( द्वादशादित्याः ) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः ।  
कुतः ? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य  
वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं  
जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति । तस्मात्कारणान्मासानामा-  
दित्यसंज्ञा कृतास्ति ।

इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्स्तनयितुरसन्निविद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति ।  
प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति ।

एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यापहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् ।

त्रयो लोकास्त्रयो देवाः, के त १, इत्यत्राह निरुक्तकारः—

‘धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति ।’

निरु० अ० ६ । ख० २८ ॥

‘त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको, मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽमौ लोकः ॥’ वा० वा० १४ । अ० ६ । [ वा० २ । क० ११ । ]

एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः । द्रौ देवानर्न् प्राणरचेति । अध्वर्धो ब्रह्मा-  
ण्डस्थः सूत्रात्मारयः सर्वजगतो बुद्धिऋत्ताद्यायुर्देवः । किमेते सर्व एवोपास्याः  
मन्तीत्यत्राह—

नैन, किन्तु ( म ब्रह्म० ) यत्सर्वजगत्कर्तृ सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं  
सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणमनादि मच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादि-  
निशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति । स एवैको देवश्चतुर्विंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो  
देवः सर्वमनुष्यस्यास्योऽस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आप्यास्ते सर्व-  
देवतम्यैरोपासनं चक्रुः, कुरन्ति, करिष्यन्ति च । अस्माद्विन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन  
आनाप्यैत्रमेव मनुष्येषु मिष्यतीति निश्चयः ।

अत्र प्रमाणम्—

‘आत्मेत्येवोपासीत । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं  
रोत्स्पतीतीश्वरो ह तथैव स्वादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव  
प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति । योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद  
यथा पशुरेव स देवानाम् ॥’

वा० वा० १४ । अ० ४ । [ वा० २ । क० १८, १९, २२ ]

अनेनार्थेतिहासेन शिक्षायते न परमेश्वरं विहायन्यस्योपासका आप्या  
क्षामन्निति ।

भाषार्थ—अत्र आगे देवता विषय में तृतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं । इसी  
ब्राह्मणमन्त्रों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है । ( त्रयस्त्रिंशन्० ) अर्थात् व्यग्रहार के ये  
( ३३ ) तृतीस देवता हैं—( ८ ) आठ वसु, ( ११ ) व्याहृद्भ्यः, ( १२ ) बारह आदित्य,  
एक इन्द्र और एक प्रज्जपति ।

उनमें से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र । इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में वसते हैं, और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं ।

( ११ ) ग्यारह रुद्र ये कहते हैं—जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, घनश्रय और ग्यारहवां जीवात्मा है । क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं । वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम रुद्र है ।

इसी प्रकार आदित्य ग्यारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इन का नाम आदित्य है ।

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की बिद्या का मुख्य हेतु है । और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की बुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है । तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है । ये सब मिलके अपने अपने दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते हैं । और तीन देव—स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं । दो देव—अन्न और प्राण को कहते हैं । अध्वर्युदेव अर्थात् जिससे सबका धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है, उसको अध्वर्युदेव कहते हैं ।

प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ?

उ०—इनमें से कोई भी उपासना के योग्य नहीं हैं, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है । इसमें यह प्रमाण है—( स ब्रह्म० ) जो सब जगत् का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबका इष्ट, सबको उपासना के योग्य, सबका धारण करने वाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आवि अन्त नहीं, और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिस का जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता, इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्टदेव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है, उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये । क्योंकि—

( ओमित्ये० ) इसमें आर्यों का इतिहास स्तूपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है । इसमें जो कोई कहे कि परमेश्वर को छोड़ के दूसरे में भी ईश्वर बुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है । जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है । इससे

यद् निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितायोंऽयं जातः, देवशब्दे दिवुषातोयै दशार्थास्ते सगता भवन्तीति । तत्रथा—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहारः, धृतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, स्वप्नः, कान्तिः, गतिरचेति । एषामुभयत्र समानार्थत्वात् । परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकारयाः सन्ति । न च स्वयंप्रकाशोऽस्ति । तत्र क्रीडनं क्रीडा, दुष्टान् निजंतुमिच्छा विजिगीषा, व्यवहियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः, स्वप्नो निद्रा, मदो ग्लेपनं दीनता, एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति । तत्सिद्धि-हेतुोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति । अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वश्रानुपद्धितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात् । तथा धृतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुति-गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च, मोदो हर्षः प्रसन्नता, कान्तिः शोभा, गतिर्ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिरचेति । एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथानुत्सर्गच्छन्ते । अतोऽन्यत्र तत्तत्तया गौण्या वृत्त्या वर्चन्ते । एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते ।

भाषार्थ—इसमें यह सिद्ध हुआ कि 'दिवु' धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथान्त घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रसार में की है। इनमें इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे यही सब का पूज्यदेव है। और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि—एक प्रीति जो ऐश्वर्या, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पाचवा मद। ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं, क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारमिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इसमें भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि ये देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा धृति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्तते हैं। क्योंकि इनमें भिन्न अर्थों में जितने जितने जिन जिन में गुण हैं उतना उतना ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक यही है।

अत्र केचिदाहुः—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद्देवाः संगयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते ?

अत्रोच्यते—मैवं अमि । ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात् । यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति । अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण दृष्ट्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति । तथा पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरण-मनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्याया भवन्ति । इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियत एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्क्षतिरस्ति । कुतः ? वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात् ।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कोई कोई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उन में जड़ और चेतन की पूजा लिखी है । इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है ।

उ०—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं । जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे देखता है, यह लोक में व्यवहार है । इसमें कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के बिना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है, जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है, वैसे ही पूजा-विषय में भी जानना । क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है, इसी का नाम पूजा है सो सब मनुष्यों को करनी उचित है । इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है, उतना उतना उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती । क्योंकि वेदों में जहां जहां उपासनाव्यवहार लिखा जाता है, वहां वहां एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है ।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात् । तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम् ।

अन्यच्च—

‘मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ॥’

प्रपा० ७ । अनु० ११ ॥

‘त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥’

प्रपा० ७ । अनु० १ ॥

इति सर्वमनुव्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैचिरीयोपनिषद्बुक्ताः । यथात्र माता-

पितरानाचार्याऽतिथिरचेति सशरीरादेवताः सन्तिः । एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति ।

भाषार्थ—इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है । एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान् । जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तमान् देवता हैं, और पाचन परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है । इस प्रकार से पांच देव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है ।

तथैव पूर्वोक्तानु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वमसो विग्रहन्त्यः सन्ति । एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःपष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वापुर्न्तरिक्षं धौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः । तथा स्तनयित्तुविधियज्ञौ च सशरीरा-शरीरे देवते स्त इति । एवं सशरीरनिःशरीरभेदेन देवताद्वयं भवति । तत्रैतामां व्यग्रहारेपयोगित्वाग्रमेव देवतात्वं गृह्यते । इत्थमेव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यग्रहारेपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मार्गं च । परमेश्वरस्तु सत्त्वित्योपयो-गित्वेनैरोपास्योऽस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन निहिता-स्तीति निश्चीपताम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ समुहों में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं । और श्यारह रुद्र, चारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं । तथा पांच ज्ञानेन्द्रिया, त्रिजुली और विधियज्ञ ये सप्त देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं \* । इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये । इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यग्रहार में, तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यग्रहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यग्रहार और परमार्थ करने में होता है । परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है ।

अत इदानींतनाः कैचिदाप्या यूरोपसण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्युच्यते च, तदलीकृतमस्ति । तथा यूरोपसण्डवासिनां बह्व्य एवं वदन्ति—पुरा ह्याप्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्, पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्या-नेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नाभिर्देवैर्देवतरीत्येश्वरस्यैरोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

\* इन्द्रियो की सतिरूपद्रव्य अमूर्त्तिमन् और गोलक मूर्त्तिमान् तथा त्रिगुण और विधियज्ञ म जो जः शब्द तथा ज्ञान अमूर्त्तिमान् और दर्शन तथा सामग्रो मूर्त्तिमन् जानना चाहिये ।



भाषार्थ—प्र०—कितने ही आजकल के आर्य्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था।

उ०—यह उन का कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त इन्द्र वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उनमें से थोड़े से यहां भी लिखते हैं—

अत्र प्रमाणानि—

( अग्निमी० ) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि 'इन्द्रं मित्रम्०' ऋग्मन्त्रोऽयम् ।

अस्योपरि 'इमेवाग्निं महान्तमात्मानम्' इत्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र [ निघ० अ० ७ । ख० १८ ] द्रष्टव्यम् । तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०' इति यजुर्मन्त्रश्च [ यजु० अ० ३२ । मं० १ ] ॥

'तमीशानं जगत्स्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमेवे वयम् ।

पूषा नो यथा वेदसामसङ्गधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥'

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥

'हिरण्यगर्भः समवर्चताम्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥'

ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० ३ । मं० १ ॥

इत्यादयो नव मन्त्रा एतद्विषया सन्ति ॥

'प्र तद्वोचेदमृतं नु धिद्वान् गन्धर्वो धाम बिभृतं गुहा सत् ।

त्रीणि पदानि निर्हिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥ ३ ॥

स नो कन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरेयन्त ॥ ४ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ५ ॥'

य० य० ३२ । मं० १-११ ॥

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ६ ॥'

य० अ० ३१ । मं० १८ ॥

‘तदेजति तन्नैजति तदुरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ७ ॥’ य० अ० ४० । म० १ ॥

‘स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमित्यादि च ॥’ [ य० अ० ४० । म० ८ ] ॥

‘य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदपिहोता न्यसीदत्पिता नः ।

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदर्वराँ २ आविवेश ॥ ८ ॥

किं खसिदामीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्त्वत् कथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि दामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥

विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुस्त विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां धमन्ति सं पतत्रैर्वावाभूमीं जनयन्देव एकः ॥ १० ॥’

य० अ० १७ । म० १७-१८ ॥

इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति ॥ तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११—

‘अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

ईशानमस्य जगतः स्पर्द्धशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥

न त्वायाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

अभाषन्तो मघवन्मिन्द्र वाजिनो गव्यं तस्त्रा हवामहे ॥ १२ ॥’ इत्यादयश्च ।

‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नामीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमासीत्पृथिवीः कुह कस्य शर्मन्ममः किमासीद्बर्हन् गभीरम् ॥ १३ ॥

इषं विसृष्टिर्यते आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो असाध्यश्नः परमे व्योमन्तसो अह्न वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥’

इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे ॥ अ० अ० ८ । अ० ७ । अ० १७ । म० १, ७ ॥

‘यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।

किपता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यत्र प्राविशत् कियत्तद्वभूव ॥ १५ ॥’

‘यस्मिन्भूमिर्नृन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्वार्हिता । यत्रागिश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठ-

न्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः सिद्धेव सः ॥ १६ ॥

अथर्व० का० १० । अनु० ४ । म० ८, १२ ॥

इत्यादयोऽथर्ववेदेऽपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः  
पूर्व प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते ।

‘अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥

[ कठो० वल्ली २ । मं० २० ]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु<sup>१</sup>मुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥

[ कठो० वल्ली ३ । मं० १५ ]

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥

[ कठो० वल्ली ४ । मं० १० ]

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ५ ॥<sup>२</sup>

[ कठो० वल्ली ५ । मं० १२, १३ ] इति कठवल्थुपनिषदि

‘दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ ६ ॥ [ मुं० २ । खं० १ । मं० २ ]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैव महिमा भुवि ।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥<sup>३</sup>

[ मुं० २ । खं० २ । मं० ७ ] इति मुण्डकोपनिषदि

‘नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं<sup>४</sup> प्रपञ्चोपशमं

शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥<sup>५</sup>

इति माण्डूक्योपनिषदि [ मं० ७ ] ।

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् ।

परमे व्योमन्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह<sup>६</sup> विपश्चितेति ॥ ९ ॥<sup>७</sup>

इति तैत्तिरीयोपनिषदि [ ब्र० व० अनु० १ ]

१—कठोपनिषदि—निचाय्यतन्मृत्यु० ॥ सं० ॥ २—माण्डूक्योपनिषदि—मेकात्म्यप्रत्ययसारं ॥ सं० ॥

३—कामाद् सह ब्रह्मणेत्युपलभ्यमानोपनिषदि पाठः ॥ सं० ॥

‘यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञामितव्य इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति न भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं न भगवः कस्मिन्नप्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥१०॥’

इति छांदाग्योपनिषदि [ प्रपा० ७ । सर्ग २३, २४ ] ॥

वेदोक्तेष्वनादिप्रतिशेषप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याशुपनिषदुक्तप्रतिशेषप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽख्यैः सृष्टिमारम्याद्यपर्यन्तं यथान्वद्विदितोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्ब्रह्ममोक्ष-मूलरहितमाख्याणां पूर्णमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति, न तच्छिष्टग्रहणा-हमस्तीति निजानामः ।

भाष्यार्थ—( इन्द्र मित्रम् ) इन्द्रमें चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्रस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि विशेष नाम हैं और ‘अणोरणीयान्’ इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है, उसी की उपासना आर्य लोग सदा से करते आये हैं । इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है, उनका आगे वेदभाष्य में किया जायगा । और सोई कोई आर्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहने वाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य लोग करते थे । इससे पूर्वोक्त शंका किसी प्रकार से नहीं आ सकती ।

भाष्यम्—किंच ‘हिरण्यगर्भः मम रर्चताग्रं भूतस्य जातः पतिः’ एतन्मन्त्र-व्याख्यानान्तरंऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति बृहदस, इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्ब्रह्ममोक्ष-मूलरैः स्वर्गीयमस्कृतमाहित्वाख्ये ग्रन्थे एतद्विषये यदुक्तं, तन्न मंगच्छने । यच्च वेदानां द्वौ भागावेकच्छन्दो, द्वितीयो मन्त्रश्च । तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परतुद्विप्रेरणाजन्य स्वरूपनया रचनाभावात्, यथाब्रह्मज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्तरे-दीदृशं यद्रचनं तच्छन्द इति निज्ञेयम् । तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकाद्रधिकानि व्यतीतानि । तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति । तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि—‘अग्निः पूर्वेभिर्धृषिभिरीड्यो नूतनैस्त’ इत्यादीनि ज्ञातव्यानि ।

तदिदमप्यन्यथास्ति । कुतः ? हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात् । अत्र प्रमाणानि—

‘ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेपोमृतं हिरण्यम् ॥’

शा० कां० ६ । अ० ७ । [ ब्रा० १ । कं० २ ] ॥

‘केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्धान्भवति । काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा । केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥’ निरु० अ० १२ । खं० २५ [ , २६ ] ॥

‘यशो वै हिरण्यम् ॥’ ऐ० पं० ७ । अ० ३ । [ खं० ६ ] ॥

‘ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः ॥’

शा० कां० १४ । अ० ७ । [ ब्रा० १ । कं० ६ ] ॥

‘ज्योतिरिन्द्राग्नी ॥’ श० कां० १० । अ० ४ । [ ब्रा० १ । कं० ६ ] ॥

एवमर्थः—ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः । एवं च ज्योतिरिहिरण्यं प्रकाशो, ज्योतिरमृतं मोक्षो, ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशका लोकाश्च, यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः ।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्बेदानामुत्तमत्वं संनात[न]त्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च । अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनवत्त्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति तद् अमूलमेव विज्ञेयम् । यद्योक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे ‘अग्निः पूर्वमि’ रित्यादिकारणम्, तदपि तादृशमेव । कुतः ? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात् । ईश्वरो हि त्रिकालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभि-  
रहमेवेदयो बभूव भवामि भविष्यामि चेति त्रिदिवेदमुक्तमित्यदोषः । अन्यच्च, ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेदयोऽस्त्यतश्च ।

भाषार्थ—इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने वृत्ताये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था, और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं । इसमें एक तो ‘हिरण्यगर्भ’ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदां में दो भाग हैं, एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र । उनमें से छन्दोभाग ऐसा

हैं जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती, और उसमें कथन इस प्रकार का है, जैसे अज्ञानों के सुप्त से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में (३२००) इकतीससौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२६००) उन्तीससौ वर्ष हुए हैं। उसमें (अग्नि पूर्वभि०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

मो उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भ०) और (अग्नि पूर्वभि०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ ब्याख्य नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नहीं जान पड़ा होगा, इस विचार से कि हिरण्य मतलब मोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उत्पत्ति, राजा और प्रजा के प्रभु होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उन को ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि-ज्योति कहते हैं विज्ञान को, मो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के, और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिन के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यज्ञ सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति=इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो ब्याख्य सिद्ध होता है, परन्तु इससे उनका नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इससे बाक्यर मोक्षमूलर मादेय का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है, मो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने (अग्नि पूर्वभि०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्वया है, क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को ब्याख्य ज्ञान के कहा है कि वेदों को पत्र के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं, वे प्राचीन और नवीन श्रुति लोग मेरी स्तुति करें। तथा यदि नाम मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है, इससे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उच्चपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से बाक्यर मोक्षमूलर सादेय का कहना ठीक नहीं।

माध्यम्—अपि निरुक्तेऽपि प्रमाणम्—

‘तत्प्रकृतोत्तरदर्शनसामान्यादित्यपि मन्त्रार्थचिन्ताम्यूहोऽभ्यूहोऽपि श्रुतिर्तो-  
ऽपि तर्कवो न तु शृण्वत्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश्च एव तु  
निर्वक्तव्या नक्षेपु प्रत्यक्षमस्त्यनूपेतपसो वा । पारोक्ष्यवित्तु तु

खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान्ब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहस्यार्थं तद्ववति ॥'

निरु० अ० १३ । खं० १२ ॥

अस्यार्थः—( तत्प्रकृति० ) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्ध्यावाभिमुख्येनोद्दो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथक् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणातुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोक्ष्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविधान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति ।

अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वती-  
तेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्पृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं ? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धं ? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्पमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्थमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्चय्यमिति । कुतः ? तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापिचेरचेति ।

अतः पूर्वैभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्यैश्चो-  
तापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेद्व्योऽस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येद्व्यः स्तोतव्य उपास्योऽस्तीति निश्चयः । एव 'मग्निः पूर्वैभिर्ऋषिभिरीद्व्यो नूतनैरुते' त्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्वा-  
चीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ।

**भाषार्थ—**इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारें उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविषयों के प्रकाश करने वाले हैं। और ईश्वर ने वेदा का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उनका शब्द धातुर्थ के साथ योग रखते हैं। इस में निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये, सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिये ऋषि है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यवर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदा के ऊपर अपनी अपनी देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं, वे ठीक ठीक नहीं हैं, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। 'तर्क' का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब काल में अग्नि जो परमेश्वर है, वही उपासना करने योग्य है।

**अन्यत्र—**‘प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः’ ॥ ऐ० ५० २। अ० ४। [स० १] ॥

**पूर्वमिः पूर्वकालावस्थास्यैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्निर्दिष्टिरग्निः परमेश्वर एवेदचोऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।**

**भाषार्थ—**जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं, उनको प्राचीन, और उस के कार्य्य में जो प्राण हैं, उन को नवीन कहते हैं, इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्निनामक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना है।

**भाष्यम्—**यद्योक्तं छन्दोमन्त्रयोर्मैदोऽस्तीति, तदप्यसंगतम् । कुतः ? छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायनाचकृत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति ।



वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्य-  
स्यापि । अत्राहुर्वास्काचार्याः—

‘मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छान्दनास्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम  
संमितमृचा ॥’ निरु० अ० ७ । ख० १२ ॥

अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छान्दनाच्छन्दो वेदः । तथा ‘चन्देरादे-  
श्च छः’ इत्यौणादिकं सूत्रम् [ ४ । २१६ ] । ‘चदि आह्लादने दीप्तौ च’ इत्यस्मा-  
द्भातोऽनु प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते ‘छन्दस्’ इति शब्दो भवति ।  
वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः ।

‘छन्दांसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हृदि सर्वं वयुनं नद्धम् ॥’

श० का० ८ । अ० १ । [ ब्रा० २ । कं० ८ ] ॥

‘एता वै देवताश्छन्दांसि ॥’ श० का० ८ । अ० ३ । [ ब्रा० ३ । कं० ६ ]

अस्यायमभिप्रायः—‘मन्त्रि गुप्तभाषणे’ अस्माद् ‘हलश्च’ इति सूत्रेण ‘घञ्’  
प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स  
‘मन्त्रो’ वेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वाद् ।  
तथा ‘मन ज्ञाने’ अस्माद्भातोः ‘सर्बधातुभ्यः घृन्’ इत्युणादिसूत्रेण ‘घृन्’ प्रत्यये  
कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन  
यस्मिन्वा स ‘मन्त्रो’ वेदः । तदवयवा ‘अग्निमीलेपुरोहित’ मित्यादयो मन्त्राः  
गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनिच्छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद्देवता-  
शब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येव देवाः । वयोनाधाः सर्वक्रियाविधानिबन्धनास्तै-  
श्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति  
विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृताः आवृताः सम्यक् स्वीकृता  
भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ ।

एवं ‘श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय’ इति मनुस्मृतौ ‘इत्यपि निगमो भवती’ति  
निरुक्ते । श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्यायौ स्तः । श्रयन्ते  
वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां  
जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ।

भाषार्थः—जैसे ‘छन्द’ और ‘मन्त्र’ ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग  
के नाम हैं, वैसे ही ‘निगम’ और ‘श्रुति’ भी वेदों के नाम हैं । भेद होने का कारण

केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रखा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं में परिपूर्ण हैं। तथा उनका 'मन्त्र' नाम इसलिये है कि उनसे सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है। और 'श्रुति' इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से मन्त्र सत्यविद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं। ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसको 'निगम' कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये।

भाष्यम्—तथा व्याकरणेऽपि—

‘मन्त्रे घमहरणशृदहादृष्टृक्कृगमिजनिम्यो लेः ॥ १ ॥

अष्टाध्याय्याम् अ० २ । पा० ४ । सू० ८० ॥

‘छन्दसि लुङ्लट्लिटः ॥ २ ॥’ अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥

‘वा पूर्वस्य निगमे ॥ ३ ॥’ अ० ६ । पा० ४ । सू० ६ ॥

अत्रापि छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्दआदीनां पर्यायमिद्वेयों भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति जिज्ञायते ।

[ इति वेदविषयविचार ]

भाषार्थ—वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचार

# अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोऽयं वेदो नाम ? मन्त्रभागसंहितेत्याह । किञ्च 'मन्त्रब्राह्मणयो-  
वेदनामधेयम्' इति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत  
इति ?

मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः ? पुराणेतिहास-  
संज्ञकत्वाद्देव्याख्यानादपिभिरुक्तत्वादेनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैऋषिभिर्वेद-  
संज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति ।

भाषार्थ—प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्रसंहिताओं का प्र०—जो  
कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है,' फिर ब्राह्मण-  
भाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ?

उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण,  
कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है । वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये,  
वेदों के व्याख्यान हैं । एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में  
साक्षी नहीं दी है । और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं । इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की  
वेद संज्ञा नहीं हो सकती । और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित  
और सब विद्याओं का मूल है ।

भाष्यम्—यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलोखपूर्वका लौकिका इति-  
हासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे ।

किञ्च भोः !

‘व्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य व्यायुषम् ।

यद्देवेषु व्यायुषं तन्नो अस्तु व्यायुषम् ॥ १ ॥’ यजु० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादि-  
विषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुन्यता दृश्यते, पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ?

मैवं अस्मि । नैवात्र जमदग्निः कश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः ।

अत्र प्रमाणम्—

‘चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्वदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि-  
र्ऋषिः ॥’ श० कां० ८ । अ० १ । [ आ० २ । कं० ३ ]

‘कश्यपो वै कूर्मः’ ‘प्राणो वै कूर्मः ।’

श० का० ७ । अ० ५ । [ या० १ । कं० ५, ७ ]

अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नामौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः ।

अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते । तद्यथा—हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निर्महकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च ( ज्ञायुषम् ) त्रिगुणमधोत् व्रीणि शतानि वर्षाणि यावचावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलभणामिन्द्रियाणां, प्राणो मनआदीनां च ( यदेवेषु ज्ञायुषम् ) अत्र प्रमाणम्—

‘विद्वांस्तो हि देवाः ॥’ श० का० १ । अ० ७ । [ श० १ । कं० १० ]

अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति, देवेषु विद्वत्सु यावद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति, ( तन्नो अस्तु ज्ञायुषम् ) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भूजीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते ।

अतोऽर्धामिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाशयते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहामलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थः—[जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामलेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं, वैसे मन्त्रभाग में नहीं हैं ।]

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही (ज्ञायुष जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं । इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं । फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ?

अ०—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं । इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—‘चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है ।’ इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं ।

( ज्ञायुषं ज० ) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि—दे

जगदीश्वर । आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की ( ३०० ) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे । ( यद्देवेषु० ) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, ( तन्नो अस्तु० ) वैसी ही हम लोगों की भी हो । तथा 'ज्यायुषं जमदग्नेः०' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् ( ४०० ) चारसौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविचारों का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं । इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी अपनी बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं, वे सब मिथ्या हैं ।

भाष्यम्—तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणैतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्त-  
श्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते ।

किंच भोः ! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणा-  
नीतिहासानपुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी' 'रित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते,  
एषां मूलमर्थवैदेऽप्यस्ति—

'स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् । तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च  
नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च  
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद' ॥

अथर्व० कां० १५ । प्रपा० ३० । अनु० १ । मं० ४ । [—कां० १५ । सू० ६ । मं० १२ ]

अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कृतो  
न गृह्यन्ते ?

मैवं वाचि । एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भाग-  
वतादीनामिति । कुतः ? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र—

'देवासुराः संयत्ता आसन् ॥' [ तं० सं० १ । ५ । १ । १ ]

इत्यादयः इतिहासा ग्राह्याः ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥'

छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ । [ खं० २ । मं० १ ]

‘आत्मा वा इदमेकमेवाग्र’ आसीन्नान्यत् किंचन मिषत् ॥’

इत्यंतरेयारण्यकोपनि० अ० १। [ ख० १। म० १ ] ॥

‘आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥’

श० वा० ११। अ० १। [ प्रा० ६। कं० १ ]

‘इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीद्’ ॥’ इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्था-  
कथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ब्राह्मणि ।

कल्पा मन्त्रार्थमामर्श्यप्रकाशकाः, तद्यथा—‘इमे त्वोर्जे त्वेति वृष्टयै तदाह,  
यद्वाहेमे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्गसो जायते तस्मै तदाह ।’ ‘सविता वै देवानां  
प्रसविता सवितृप्रसूताः ॥’ श० वा० १। अ० ७। [ प्रा० १। क० २, ४ ]

इत्यादयो ब्राह्मः ।

गाथा याज्ञवल्क्यजनकमंवादो । यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीर्मन्त्रम्यादीनां  
परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति ।

नाराशंस्यश्च, अब्राहुर्यास्काचार्याः—

‘नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो’, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति  
यारुणिरैः प्रशस्यो भवति ॥’ निर० अ० ८। ख० ६ ॥

नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्पत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताधान्तर्गताः कथा नाराशंस्यो  
ब्राह्म नातोऽन्या इति ।

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञी-  
पदमितिकामादिस्तेषां मंज्ञेति । तद्यथा—ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि  
कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ।

भाषार्थ—और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही ‘इतिहासादि’ नाम जानना चाहिये,  
श्रीमद्भागवतादि वा नहीं ।

प्र०—जहां जहां ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में ( यद्ब्राह्मण० ) इतिहास, पुराण,  
कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास,

१—ऐ० उ० में उपलब्ध पाठ—० इदमेक एवाग्र ॥ म० ॥

२—तु०—नैवेह किंचनाग्र आसीत्— वृ० उ०, अ० १। प्रा० २। म० १ ॥ सं० ॥

३—काथक्य इति निरुक्त ॥ सं० ॥

पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ?

उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रखी है। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

जो ब्राह्मणग्रन्थों में ( देवासुराः संयत्ता आसन् ) अर्थात् 'देव विद्वान् और असुर मूर्ख वे दोनों युद्ध करने को सत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है।

( सदेव सो० ) अर्थात् जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है।

( इषे स्वोर्जे स्वेति वृष्ट्यै० ) जो वेदग्रन्थों के अर्थ, अर्थात् जिनमें ब्रह्मों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

और जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

( ब्राह्मणानीतिहासान्० ) इस वचन में 'ब्राह्मणादि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो जो जैसी जैसी कथा लिखी हैं, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

भाष्यम्—अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये—

'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥' अ० २। आ० १। सू० ६० ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।

अयमभिप्रायः—ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते—

सू०—'विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥'

अ० २। आ० १। सू० ६१ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि, विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति।' तत्र—

सू०—‘विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥’ अ० २ । वा० १ । सू० ६० ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—‘यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुवा वा, यथा ‘अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम’ इत्यादि ।’ ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः ।

द्व०—‘स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥’

अ० २ । वा० १ । सू० ६१ ॥

अस्योपरिवात्स्यायनभाष्यम्—‘विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, संप्रत्ययार्थ, स्तूयमानं श्रद्धावति प्रवर्तिका च, फलप्रवणत्वात्प्रवर्तते । सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्वाप्त्यै सर्वस्य जित्वै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जपतीत्येवमादि’ । अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थ, निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो पक्षो यद्वा नां यज्योस्तिष्ठोमो, य एतेनानिष्ठाऽन्येन यजते गतौ पतत्यपमे[वै]तज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा नपामेवाग्नेऽभिधारयन्ति, अथ पृषदाज्यम् । तदु ह चरका-  
ध्वर्यवः पृषदान्यमेवाग्नेऽभिधारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवम-  
भिदवतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं साम स्तोममत्तौपन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामह इत्येवमादि’ ।  
कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंयन्धाद्विध्या-  
थपस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य घोटनादर्थवाद इति ।’

भाषार्थः—ब्राह्मणप्रयोगों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है—जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं, वेने ब्राह्मणप्रयोगों में भी हैं । उनमें से एक—विधि-  
वाक्य है, जैसे—‘देवदत्तो ग्रामं गन्धेसुसार्थम्’ सुप्त के लिये देवदत्त ग्राम को जाय, इसी प्रकार ब्राह्मणप्रयोगों में भी है—‘अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम’ जिसको सुप्त की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे । दूसरा—अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है—  
एक—( स्तुति ), अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्पन्न  
ग्राम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो । दूसरी—( निन्दा ), अर्थात् धुरे काम करने  
में दोषों का दिखलाना, जिससे उनको कोई न करे । तीसरा—( परकृति ), जैसे इस



घोर ने बुरा काम किया, इससे उसको दण्ड मिला, और साहूकार ने अच्छा काम किया, इससे उसकी प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा—(पुराकल्प), अर्थात् जो बात पहिले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में बाल्मवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था, इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

भाष्यम्—सू०—‘विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ५ ॥’

अ० २। आ० १। सू० ६४ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—‘विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।’

सू०—‘न चतुर्द्वयैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ ६ ॥’

अ० २। आ० २। सू० १ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—‘न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि, ऐतिह्यमर्यापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्ट-प्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्यमैतिह्यम्।’

अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

भाषार्थ—इसका तीसरा भाग—अनुवाद है, अर्थात् जिसका पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है—एक—शब्द का, और दूसरा—अर्थ का। जैसे ‘वह धिया को पढ़े’ यह ‘शब्दानुवाद’ है। ‘विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है’ इसको ‘अर्थानुवाद’ कहते हैं।

जिसकी प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह ‘प्रतिज्ञा’ है। विनाश रहित होने से, यह ‘हेतु’ है। आकाश के समान है, इसको ‘उदाहरण’ कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है, इसको ‘उपनय’ कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को ‘निगमन’ कहते हैं। जैसे—परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी।

इससे इसमें समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो इसको ‘अनुवाद’ कहते हैं। सो ब्राह्मणपुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक ठीक लिखी हैं। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं।

भाष्यम्—अन्यत्र—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्या-  
नीति । कुतः ? 'इषे त्वोर्जे त्वेति' य० व० १ । अ० ७ । [ ब्रा० १ । क० २ ]  
इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ।

भाष्यार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि 'इषे त्वोर्जे  
त्वेति०' इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक घर घर के वेदों का व्याख्यान किया है ।  
और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती ।  
इमसे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अथान् चार संहिता हैं, वे ही वेद हैं, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं ।

अन्यत्र महाभाष्येऽपि—

'केषा शब्दानाम् ?, लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावत्—  
गौरश्चः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि—शशो  
देवीरभिष्टये । इषे त्वोर्जे त्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आ याहि धीतय  
इति ॥' [ अ० १ । पा० १ । या० १ ]

यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमवात् । अतः  
एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु  
शब्देऽपूढावतानि । किन्तु यानि 'गौरश्च' इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि  
तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते । कुतः ? तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् ।

'द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १ ॥' अ० २ । पा० ३ । सू० ६० ॥

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ २ ॥' अ० २ । पा० १ । सू० ६२ ॥

'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणरूपेषु ॥ ३ ॥' अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥

अत्रापि पाणिन्याचार्यवेदब्राह्मणयोर्मेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा—  
पुराणैः प्राचीर्नैरज्ञातृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतः  
एवैतेषां पुराणोक्तिहामंशा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि  
'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दोमत्पत्रं छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः, ? 'द्वितीया ब्राह्मण'  
इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो निश्चायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञा-  
स्तीति । अतः किं मिद्धम्, ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम्—  
'ब्रह्म वै ब्राह्मणः, श्वरराजन्यः ॥'

‘समानार्थवेतौ [ वृषशब्दो वृषणशब्दश्च ] ब्रह्मणशब्दो ब्राह्मणशब्दश्च ॥’

इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । अ० १ ॥

चतुर्वेदविद्विर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि ।

अन्यच्च—कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः ? एवं तेना-  
नुक्तत्वादतोऽन्यैः ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्ह-  
तीति । इत्यादिषुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ।

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिसमें लोक और वेदों के भिन्न भिन्न उदाहरण दिये हैं । जैसे—‘गौरश्वः०’ इत्यादि लोक के और ‘शत्रो देवीरभिष्टय’ इत्यादि वेदों के हैं । किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और ‘गौरश्वः’ इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मणपुस्तकों के हैं, क्योंकि उनमें ऐसा ही पाठ है । इसी कारण से ब्राह्मणपुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती ।

और कात्यायन के नाम से जो दोनों कि वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो, तो भी नहीं बन सकता । क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि ‘उस लकड़ी को भोजन करा दो,’ और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता । क्योंकि इसमें अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ‘ब्रह्म’ नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं । इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है । इससे निश्चय हुआ कि मन्त्र भाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं ।

भाष्यम्—किञ्च भोः ? ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहो-  
स्विन्नेति ?

अत्र ब्रमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति । कुतः ? ईश्वरोक्ताभावा-  
च्चदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्येवेति ।

[ इति वेदसंज्ञाविचारः ]

भाषार्थ—प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं ?

उ०—ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं\* ॥

इति वेदसंज्ञाविचारः

\* इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उसका प्रमाण करना किसी को न चाहिये, और ब्राह्मणग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है ॥

# अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ?

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाशयते—  
'तमीशानं जगतस्तत्स्थुषस्पतिं धियंजिन्मवसे हूमहे वयम् ।

पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥'

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ २ ॥'

ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ५ ॥

अनयोरर्थः—( तमीशानम् ) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता, ( जगतस्तत्स्थु-  
षस्पतिं ) जगतो जङ्गमस्य तत्स्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी, ( धियंजिन्म )  
यो बुद्धेस्तुतिकर्त्ता, ( अवसे हूमहे वयम् ) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः ।  
( पूषा ) पुष्टिकर्त्ता ( नः ) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति । ( यथा वेदसाम-  
सद्वृधे ) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे  
वर्धनाय भवानस्ति, तथैव कृपया ( रक्षिताऽसत् ) रक्षकोऽप्यस्तु । एवं ( पायुर-  
दब्धः स्वस्तये ) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय ( अदब्धः ) अनलसः सन्  
पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥ तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञान-  
काण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—प्र०—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं ?

उ०—सब हैं । क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली  
हैं । उनमें से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं—

( तमीशानं ) जो सब जगत् का बनाने वाला है, ( जगतस्तत्स्थुषस्पतिं ) अर्थात्  
जगत् जो चेतन तत्स्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने  
वाला है, ( धियंजिन्म ) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करने वाला है,  
उसकी ( अवसे हूमहे वयम् ) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते  
हैं, ( पूषा नः ) क्योंकि वह हमको सब सुखों से पुष्ट करने वाला है । ( यथा वेदसामसद-  
वृधे ) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने  
वाले हैं, वैसे ही ( रक्षिता ) सब की रक्षा भी करें । ( पायुरदब्धः स्वस्तये ) जैसे आप  
हमारे रक्षक हैं, वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥ १ ॥

( तद्विष्णो० ) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहा देख लेना ॥ ३ ॥

‘परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजायृतस्यात्मनात्मानमुभि सं विवेश ॥ ३ ॥’

य० अ० ३२ । म० ११ ॥

भाष्यम्—( परीत्य भू० ) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य, सूर्यादील्लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादि-प्रदिशश्च परीत्य, परितः सर्गतः, इत्वा प्राप्य, विदित्वा च, ( उपस्थाय प्र० ) यः स्वमामर्ष्यस्याध्यात्मान्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्द-स्वरूपं मोक्षार्थं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वमामर्ष्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, चाभिपंनिवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षार्थं सुखमनुभवतीति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—( परीत्य भू० ) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा ( परीत्य लोकान् ) सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, ( परीत्य सर्वाः ) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् निम्न की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, ( श्रुतस्या० ) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, ( प्रथमजा ) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके ( अभि० ) सदा मोक्षसुख को भोगता है ॥ ३ ॥

‘ब्रह्मश्रं भुवनस्य मध्ये तपमि क्रान्तं तल्लिलसं पृष्ठे ।

तस्मिन्नुपन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ४ ॥’

अथर्व० का० १० । प्रार० २३ । अनु० ४ । म० ३८ ॥

भाष्यम्—( महदशं ) यन्महत्तमैर्म्यो महत्तरं यत् सर्वमनुप्यैः पूज्यम्, ( भुवनस्य ) मरुसंसारस्य ( मध्ये ) परिपूर्णम्, ( तपमि क्रान्तं ) विज्ञाने वृद्धम्, ( तल्लिलस्य ) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं ( पृष्ठे ) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् ( तस्मिच्छ्रय० ) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्तयस्मिन्ब्रह्मादयस्ते मयि तदाधारेण तिष्ठन्ति । कस्य को इव ? ( वृक्षस्य स्कन्धः० ) वृक्षस्य स्कन्धं परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( महद्यक्षं ) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है, ( भुवन्तस्य मध्ये ) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, ( तपसि क्रान्तं ) जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, ( सलिलस्य पृष्ठे ) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उस का भी आधार और उसमें व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है, ( तस्मिन्मध्यन्ते य उ के च देवाः ) जिसके आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, ( वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—‘न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ ५ ॥

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ ६ ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ७ ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ ८ ॥

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ॥ ९ ॥’

अथर्व० का० १३ । अनु० ४ । मं० १६-१८, २०, २१ ॥

भाष्यम्—( न द्वितीय० ) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ५ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ६ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ७ ॥

यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति, नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति ।

येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि ( निगतं ) निश्चितं प्राप्तमस्ति, व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात् । ( सहः ) यतः सर्वं सहते तस्मात्स एवैव सहोऽस्ति । स खल्वेक एव वर्त्तते । न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्त-चुल्यो वास्ति । एकशब्दस्य त्रिग्रहणात् । अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मात्, एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते । पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ८ ॥

अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता यस्मादय एकवृत्त एकाधिकरणा एव भवन्ति, अर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति ॥ ९ ॥

एवंविधाश्रान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमि' त्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाविक्रयमिया नात्र लिख्यन्ते । किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति, तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ।

[ इति ब्रह्मविद्याविषय ]

भाषार्थ—( न द्वितीयो न० ) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ५ ॥

( न पञ्चमो न० ) न पाचवा, न छठा, और न कोई सातवा ईश्वर है ॥ ६ ॥

( नाष्टमो न० ) न आठवा, न नवमा, और न कोई दशमा ईश्वर है ॥ ७ ॥

( तमिद० ) किन्तु यह सदा एक अद्वितीय ही है । उससे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं ।

इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस अभिप्राय से है कि सत्र संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है । इसी को दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ और नव बार गणने से २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ और ९ नव अङ्क बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है । उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है, अर्थात् उसके एकपने में भी भेद नहीं, और वह शून्य भी नहीं । किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही मदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रच के, अपने मामर्थ्य से धारण कर रहा है । तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥ ८ ॥

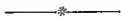
( सर्व अस्मिन्० ) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में घसु आदि सब देव, अर्थात् श्मिनी आदि लोक ठहर रहे हैं, और प्रलय में भी उनके सामर्थ्य में लय होके उसी में घने रहते हैं ॥ [ ९ ] ॥

इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं । यहां उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहां जहां वे मन्त्र आंगे, वहां वहां उनका अर्थ फर दिया जायगा ।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः



# अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाशयते



‘सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥ १ ॥’

श्रु० अ० ८ । अ० ८ । व० ४६ । मं० २ ॥

भाष्यम्—( संगच्छध्वं० ) ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं, सम्यक् प्राप्नुत । अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत, येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत, सर्वदुःखनाशश्च भवेत् । ( सं वद० ) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संग्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याधुत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् । ( सं वो मनांसि जानताम् ) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत, अर्थात् येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम् । युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—( देवाभागं यथा० ) यथा पूर्वं संजानाना ये सम्यग ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन्, युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो, यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

भाषार्थ—अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है—( संगच्छध्वं ) देखो, परमेश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है कि, हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो । ( सं वदध्वं० ) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना पढ़ाना, प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे । ( सं वो मनांसि जानताम् ) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो । और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं । ( देवा भागं य० ) जैसे पक्ष-

पातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की ज्ञाना, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यमावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

‘ममानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः गृह चित्तमेषाम् ।

ममानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ २ ॥’

अ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४६ । म० ३ ॥

भाष्यम्—( समानो मन्त्रः ) हे मानवा वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थात्माधीश्वर-  
मारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुणप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं  
वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति, तत्रथा राज्ञो मन्त्री  
मत्यामन्यनिवेकरुचैत्यर्थः, सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, ममानस्तुल्यो-  
ऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः  
कर्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सामान्यं मतानि भवेयुः, तत्रापि सर्वेभ्यः  
सारं गृहीत्वा यत्रतर्ममनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्तर्मा ज्ञात्वै-  
क्यं कृत्वा नित्यं समानव्रत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुचरोचरमुचमं सुखं  
वर्धेत । तथा ( समितिः समानी ) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद्वा  
न्यायप्रचारादृश, सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यश्रियाम्यागशुभगुण-  
साधिका, शिष्टममया राज्यप्रगल्भावाहादिता परमार्थव्यवहारशोधिता, वृद्धिशरीर-  
बलादौघमर्दिनी शुभमर्थादापि भवानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखमर्चनायैकरसैव  
कार्य्येति । ( ममानं मनः० ) मनः संकल्पनिकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि,  
त्रिभूत्योऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि शुभगुणान्नाति संकल्पः, अशुभगुणान्नाति त्रिकल्पश्च  
रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः ममानमन्योन्यमभिस्त्वस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं  
पूर्णपराशुभं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःख-  
नाशाय सुखमर्चनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुष्टार्थेनैव कार्य्यम् । ( सह ) युष्माभिः  
परस्परस्य सुखोपकारायै सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् ( एषां ) ये हृदयेषां मर्जनीयानां  
सङ्गे स्वात्मवद्वर्चने तादृशानां परोपकारिणां परसुखदानुणामुपर्य्यहं कृपालुभूत्वा  
( अभिमन्त्रये वः ) युष्मान्परोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्यमेव सर्वैः कर्तव्यमिति,  
येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । ( ममानेन वो० )

हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

**भाषार्थ—**( समानो मन्त्रः ) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र, अर्थात् सत्य असत्य का विचार है, वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब जब तुम लोग मिल के विचार करो, तब तब सब के वचनों को अलग अलग सुन के, जो जो धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सबों का बराबर सुख बढ़ता जाय । ( समितिः समानी ) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे अच्छे काम उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा है, सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं । ( समानं मनः सह चित्तं ) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है । उससे सदा पुरुषार्थ करो । जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो । तथा 'चित्त' उसको कहते हैं, कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वा-पर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक सा हो । 'सह' जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें । ( एषां ) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देने वाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूँ । ( समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः ) अर्थात् मैं उनके लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें, जिस से उन का सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो । ( समानेन वो हविषा जुहोमि ) हे मनुष्य लोगो ! जब जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब तब धर्म से युक्त ही करो । उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो । और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ । इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो, और इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

‘समाना व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहसति ॥ ३ ॥’

भाष्यम्—अस्यायमभिप्रायः—हे मानवा वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्ममन्त्रे परस्परमनिरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति ।

( समानी व० ) आकृतिरध्यवसाय उत्साह आत्मीयतिर्वा सापि वो युष्माकं परम्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु । यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य त्रिलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम् । ( ममाना हृदयानि वः ) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निरैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु । ( ममानमस्तु वो मनः ), अत्र प्रमाणम्—

‘कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि शृणुत उपभृष्टो मनसा विजानाति ॥’

श० का० १४ । अ० २ । [ श्र० ३ । क० ६ ] ॥

मनसा निश्चित्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छा ‘कामः’ तस्मात्पुनरनुष्ठा-  
नञ्छा ‘संकल्पः’ । पूर्वं संग्रहं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेञ्छा संशयो ‘विचिकित्सा’ । ईश्वरमत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः ‘श्रद्धा’ । अनीश्वरादाधर्माद्युपरि  
सर्वथा ह्यनिश्चयो ‘ऽश्रद्धा’ । सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैवनिश्चयरक्षणं  
‘धृतिः’ । अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यं ‘मधृतिः’ । सत्यधर्माना-  
चरणेऽमत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ‘हीः’ । शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति  
धारणानती धृति ‘धीः’ । असत्याचरणादीश्वराज्ञाभङ्गात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र  
पञ्चमीत्यादिधृतिर्‘भीः’—एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु ।  
( यथा वः सुमहासनि ) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति  
मम्यन् सुप्रीतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो निधेयः । सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त  
माहादः कार्य्यः । नैव कश्चिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्तव्यम्, किन्तु  
यथा सर्वे सन्तन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ॥ ३ ॥

भाष्यार्थः—( समानी व आकृति ) ईश्वर इय मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को ‘आकृति’ कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुण्यार्थ सब जीवों के सुख के लिये मदा हो, जिससे धरे कते धर्म का कर्मा त्याग न हो । और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जितने ( ममाना हृदयानि व ) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यग्रहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें । ( ममानमस्तु वो मन ) मन

शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायं—( कामः ) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और गुरों को छोड़ देना इसका नाम काम है । ( संकल्पः )—जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उसको संकल्प कहते हैं । ( विचिकित्सा ) जो जो काम करना हो उस उसको प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है । ( श्रद्धा )—जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उस को श्रद्धा जानना । ( अश्रद्धा ) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये । ( धृतिः )—जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उसका नाम धृति है । ( अधृतिः )—बुरे कामों में हड़ न होने को अधृति कहते हैं । ( ह्रीः )—अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्री कहते हैं । ( धीः )—जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है उसको धी कहते हैं । ( भीः )—जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना । अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा—इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम 'मन' है । इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिये युक्त करो ( यथा वः सुसहासति ) हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो, और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े, ऐसा काम सब दिन करते रहो । किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो, किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो । जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

‘दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धास्तस्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥’

य० अ० १६ । मं० ७७ ॥

भाष्यम्—( दृष्ट्वा० ) अस्यायमभिप्रायः—प्रजापतिः परमेश्वरो धर्म-मुपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽस्त्ये चाश्रदेति ।

( प्रजापतिः ) परमेश्वरः ( सत्यानृते ) धर्माधर्मौ ( रूपे ) प्रसिद्धाप्रसिद्ध-लक्षणौ दृष्ट्वा ( व्याकरोत् ) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथ-

मित्यत्राह—( अथद्वा० ) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामद-  
धात् । अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुं माज्ञापयति, तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये, प्रत्यक्षा-  
दिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रज्ञापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां  
चादधात् । एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च  
सदैव कार्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( दृष्ट्या० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो  
सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है, वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता  
है, कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये,  
असत्य में कभी नहीं ।

( प्रजापति ) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो ( सत्यानृते ) सत्य जो धर्म  
और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं\* ( व्याकरोत् ) उनको ईश्वर  
ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक ठीक विचार से देव के सत्य और मूठ को अलग अलग  
किया है । सो इस प्रकार से है कि ( अथद्वा० ) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत  
अर्थात् मूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो । वैसे ही  
( श्रद्धां० ) सत्य, अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त, और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से  
परीक्षा की गई हो, वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उस के आचरण  
में सब दिन प्रीति रखो । और जो जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस उस में  
अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल रसमान से युक्त करके सदा  
सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

‘दत्ते द९ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥५॥’

य० अ० ३६ । म० १८ ॥

भाष्यम्—( दत्ते द९ह० ) अस्यायमभिप्रायः—सर्वे मनुष्याः सर्वथा  
मर्दा सर्वैः सह सौहार्देनैव वर्त्तन्विति । मरौरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्य ईश्वरः  
प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात् । तद्यथा—

हे ( दत्ते ) मर्दुःखनिनाशकेयूर ! मनुष्ये कृपां पिबेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं  
यथावद्विजानी ॥५॥ पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि ( मा )  
मां सदा सन्तोषन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु । इतीच्छामि शिष्टं मां ( द९ह ) दह,

\* जितना धर्म अधर्म वा लक्षण बाहर की चेष्टा क साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट, और  
जितना आत्मा में साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहा जाता है ॥

सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय । ( मित्रस्याहं० ) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या ( सर्वाणि भूतानि समीक्षे ) सम्यक् पश्यामि । ( मित्रस्य च० ) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योऽन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे । इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( हृते हृ० ह० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्ते । और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो ।

( हृते० ) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्ते । ( मित्रस्य मा० ) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्ते । ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को ( हृ० ह० ) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा वृद्धाये । ( मित्रस्याहं० ) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूँ, और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समस्तुत्य ही सब जीवों को मानूँ । ( मित्रस्य च० ) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें, और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें । जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्रे व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्यं तन्मे राध्यताम् ।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ६ ॥ श० अ० १ । मं० ५ ॥

भाष्यम्—( अग्ने व्र० ) अस्याभिप्रायः—सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति । नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च भवतः ।

हे अग्ने व्रतपते ! सत्यपते ! ( व्रतं ) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि ।

अत्र प्रमाणम्—

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः ।

एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥

श० का० १ । अ० १ । [ श्र० १ । कं० ४, ५ ]

सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति । ( तच्छक्यम् ) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्तुं महं शक्यं समर्थं भवेयम् ( तन्मे राध्यताम् ) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किञ्च तद् व्रतमित्यत्राह—( इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ) यत्सत्य-

धर्मस्यैवाचरणमनुतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोऽनुगृहाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्यं च, एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः ? जीवे तत्सिद्धिं कर्त्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—, अग्ने प्र० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मय मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उसके सहाय के बिना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता ।

हे सत्यपते परमेश्वर ! ( प्रत्तं ) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि—‘जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे ‘देव’ कहाते हैं, और जो अधर्म का आचरण करते हैं उन को ‘मनुष्य’ कहते हैं’ । इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूँ । ( तच्छ्रेयं ) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ । ( तन्मे राध्यतां ) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये । ( इदमहनुतादसत्यमुपैमि ) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूँ । उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा रुढ़ रहूँ ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचिit है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरोषार्थ अवश्य करें । उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यहो प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरोषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आँख वाले पुरष को ही किसी चीज को दिखा सकता है, अंध को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाज, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने धर्म को करने के लिये बुद्धि आदि घटने के साधन जीव के माय रखे हैं । जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करना है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य में उस पर ठूपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि मय जीव कर्म करने में र्नाधान और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥ ६ ॥

व्रतेन दीक्षमाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्नोते ॥ ७ ॥



भाष्यम्—( व्रतेन दी० ) अस्याभिप्रायः—यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम्, नासत्ये चेति ।

यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति, तदा दीक्षासुचमाधिकारं प्राप्नोति । ( दीक्षयाप्नोति द० ) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति, तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति । ( दक्षिणा श्र० ) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्यादिसत्यव्रतैः सत्कारादृचा स्वस्यान्येषां च भवति, तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः ? सत्याचरणमेव सत्कारकारकमसत्यतः । ( श्रद्धया० ) यदोचरोचरं श्रद्धा वर्धते, तदा तथा श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं प्राप्यते, नान्यथेति । अतः किमागतं, सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( व्रतेन दी० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि—जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है । उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं ।

( व्रतेन० ) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है । ( दीक्षयाप्नोति० ) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं । क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । ( दक्षिणा श्र० ) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है । क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है । ( श्रद्धया० ) फिर सत्य के आचरण में जितनी जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं । इससे क्या सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥ ७ ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तकृते श्रिता ॥ ८ ॥

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यज्ञसा परीवृता ॥ ९ ॥

अथर्व० का० १२ । अनु० ५ । मं० १, २ ॥

भाष्यम्—( श्रमेण तपसा० ) अभिप्रायः—श्रमेणेत्यादिसन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाशयन्त इति ।

श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि, तपो धर्मानुष्ठानम्, तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः ( ब्रह्मणा० ) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः । ( ऋते श्रिता० ) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ८ ॥

( सत्येनावृ० ) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । ( श्रिया प्रावृ० ) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । ( यशसा० ) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतो वृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( श्रमेण तपसा० ) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को ( श्रमेण० ) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये ।

क्योंकि ईश्वर ने ( श्रम० ) जो परम प्रयत्न का करना, और ( तपः० ) जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है, इस कारण से ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने अपने ज्ञान को यदावें ( ऋते श्रिता ) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ८ ॥

( सत्येनावृता ) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों । ( श्रिया प्रावृता ) हे मनुष्य लोगो । तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के, शोभा रूप भी को सिद्ध करके, उसको चारों ओर पहिन के शोभित हो, ( यशसापरी० ) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ ९ ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे

प्रतिष्ठिता लोको निघर्नम् ॥ १० ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चैन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ ११ ॥

अपर्व० का० १२ । अनु० १ । प० ३, ७ ॥

भाष्यम्—( स्वधया परि० ) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः । ( श्रद्धया प० ) सत्यमेव

विश्वासमूलमस्ति नासदिति, तथा सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊहाः प्राप्तवन्तः सन्तु । ( दीक्षया गुप्ता ) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः । ( यज्ञे प्रतिष्ठिताः ) 'यज्ञो वै विष्णुः' व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशल-त्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु । ( लोको निधनम् ) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ १० ॥

अन्यच्च—( ओजश्च ) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, ( तेजश्च ) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दोषता, सत्ये व्यवहारे कर्तव्या । ( सहश्च ) सुखदुःखहानि-लाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्तव्यम् । ( बलं च ) ब्रह्मचर्यादिसुनियमाचरणेन शरीर-बुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्यमिति । ( वाक् च ) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्येति । ( इन्द्रियं च ) मन आदीनि वागभिनानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरि-क्तानि च सदैव रक्षणीयानि । ( श्रीश्च ) सम्राट् राज्ञश्चैव परमपुरुषार्थेन कार्येति । ( धर्मश्च ) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः, पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्तः, सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्त्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—( स्वधया परिहिता ) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें । इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों । ( श्रद्धया पर्यूहा ) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों । क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल, तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं । ( दीक्षया गुप्ता ) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हों और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करो । ( यज्ञे प्रतिष्ठिता ) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर, अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ, अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें । ( लोको नि० ) जब तक तुम लोग

जाने रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो, किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ १० ॥

( ओजश्च ) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, ( तेजश्च ) प्राकृतता, अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, ( सहश्च ) सुख दुःख, हानि लाभ आदि की भांति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, ( वलञ्च ) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि फल का बढ़ाना, ( बालू च ) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् फोमल प्रिय भाषण का करना, ( इन्द्रियं च ) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं, उनको पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, ( श्रोश्च ) चक्रवर्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, ( धर्मश्च ) जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के, पक्षपात को छोड़ के, साथ ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सचका उपकार करते वाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को 'धर्म' और उससे उलटा करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म का यह सब व्याख्या है कि जो 'संगच्छध्वं' इस मन्त्र से लेके 'यवोऽभ्युदयं' इस मन्त्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्मं च क्षत्रं च राष्ट्रं च विश्वं च त्विषिञ्च

यशश्च वर्यश्च द्रविणं च ॥ १२ ॥

आयुश्च रूपं च नामं च कूर्तिश्च

प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १३ ॥

पर्यश्च रसश्चात्रं चाक्षर्यं च श्रुतं च सुत्यं

चेष्टं च पूतं च व्रजा च पुश्वश्च ॥ १४ ॥

अथर्व० वा० १२। अनु० ५। म० ५-१० ॥

भाष्यम्—इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो वेदेष्पीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टो-  
ऽस्ति ।

( ब्रह्मं च ) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरण-  
त्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, ( क्षत्रं च ) क्षत्रियोपलक्षणं  
विद्याचातुर्ष्यर्णार्धर्षवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, ( राष्ट्रं च ) सत्पुरुषसमया  
मुनियमैः सर्वसुरादयः शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्प्यम्, ( विश्वं ) वैश्यादि-  
प्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले व्यवहृतगतिमंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्धयर्थं  
संरक्षणं च कार्प्यम्, ( त्विषिञ्च ) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च

शुद्धा प्रचारणीयेति, ( यशश्च ) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्तिः संस्थापनीया, ( वर्चश्च ) सद्बिद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्यम्, ( द्रविणं च ) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्बृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १२ ॥

( आयुश्च ) वीर्यादिरक्षणेन योजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवने--  
नायुर्वलं कार्य्यम्, ( रूपं च ) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं  
स्वरूपं रक्षणीयम्, ( नाम च ) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या । यतोऽन्य-  
स्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, ( कीर्तिश्च ) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुप-  
देशार्थं कीर्तनं, स्वसत्कीर्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, ( प्राणश्चापानश्च ) प्राणायाम-  
मरीत्या प्राणायानयोः शुद्धिवले कार्य्ये । शरीराव्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स  
'प्राणः', बाह्यादेशाच्छरीरं प्रविशति स वायु 'रपानः', शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः  
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशरीरबलं च संपादनीयम्, ( चक्षुश्च श्रोत्रं च ) चक्षुषं  
प्रत्यक्षं, श्रोत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः  
सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥ १२ ॥

( पयश्च रसश्च ) पयो जलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक्  
शोधयित्वा भोक्तव्यौ, ( अन्नं चाप्राद्यं च ) अवन्नोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं  
शुद्धं संस्कृतमन्नं संपादयैव भोक्तव्यम्, ( ऋतं च सत्यं च ) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवो-  
पासनीयम्, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा  
सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च, ( इष्टं च पूर्य्यं च ) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं  
यज्ञानुष्ठानं च, पूर्य्यं तु यत्पूर्य्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक्पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तु-  
संसारैश्चोभयानुष्ठानपूर्य्यः कार्य्यति, ( प्रजा च पशवश्च ) प्रजा सन्तानादिका राज्यं  
च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः ।  
वह्निश्चकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( ब्रह्म च ) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को  
ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना, और उन लोगों  
को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें । ( श्वत्रं च ) अर्थात् सब  
कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को

दृष्ट देना और श्रेष्ठों का पालन करना, इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना । ( राष्ट्रश्च ) श्रेष्ठ पुरुषों की समा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना, और उत्तम गुण सहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये । ( विशश्च ) वैश्य आदि वर्णों की व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो । ( त्विषिश्च ) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये । ( यशश्च ) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्ति को बढ़ाना उचित है । ( धर्मश्च ) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये । ( द्रविणं च ) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना, और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बड़े हुए धनादि पदार्थों का रखव यथावत् करना चाहिये । इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १२ ॥

( आयुश्च ) वीर्य आदि घातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ । ( रूपं च ) अत्यन्त विषय-सेवा से प्रयुक्त रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना । ( नाम च ) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो । ( कीर्तिश्च ) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे बुद्धि भी यश बढ़े । ( प्राणश्चापानश्च ) जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको 'प्राण', और जो बाहर से भीतर जाता है, उसको 'अपान' कहते हैं । योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ । ( चक्षुश्च श्रोत्रं च ) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिहास्य अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १३ ॥

( पयश्च रसश्च ) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि, और जो रस अर्थात् शकर ओषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो । ( अन्नं चान्नाद्यं च ) वैद्यकशास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये । ( ऋतं च सत्यं च ) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी । जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये । ( इष्टं च पूर्तं च ) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है, उस इष्ट की सिद्ध करने की पूर्ति, और जिस जिस उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण

करने के लिये जो जो अवश्य हो सो सो सामग्री पूर्ण करनी चाहिये । ( प्रजा च पशवश्च ) सब मनुष्य लोग अपने सन्तान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें, और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है । इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥ १४ ॥

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्—

‘ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्रयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राशीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुषिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहुत्य प्रजातन्तुं मा व्ययच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूतै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ [१] ॥ देवपितृकार्यार्भ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यनि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्थानि ॥ २ ॥ नो इतराणि ।

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रशसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भ्रिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ [३] ॥ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलक्ष्णा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलक्ष्णा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन्, तथा तेषु

। एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् ।  
एतमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

तैत्तिरीय आरण्यके प्रगा० ७ । अनु० ६. ११ ॥

भाष्यम्—( एतेषामभिप्रायः )—सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्म-  
लक्षणानि मर्दय सेव्यानीति ।

( ऋतं च० ) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानम्, ( सत्यं च० ) सत्यस्याचरणं च,  
( तपश्च० ) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, ( दमश्च० )  
जयमर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निरर्थं तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः  
काव्या, ( शमश्च० ) नैव मनमापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्ष्येति, ( अग्नयश्च० )  
वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यापहारिकविशेषकारकरणम्,  
( अग्निहोत्रं च० ) नित्यहोममारभ्याद्यमेवपर्यन्तेन यज्ञेन वायुपृथिव्यलक्षद्विद्वा  
सर्प्राणिनां सुखसम्पादनं कार्प्यम्, ( अतिथश्च० ) पूर्णनिग्रायतां धर्मात्मनां  
सगसैराभ्यां सत्यशोधनं द्विजमंसयत्वं च कार्प्यम्, ( मानुषं च० ) मनुष्य-  
मन्त्रव्यागज्यनिग्रादिपितृ सन्त्यक् मिदं कर्त्तव्यम् । ( प्रजा च० ) धर्मेणैव प्रजा-  
श्रुत्या सा सदैव सत्यधर्मनिग्रासुशिक्षयान्विता काव्या ( प्रजनश्च० ) वीर्यवृद्धिः  
पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, ( प्रजातिश्च० ) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं  
सन्तानशरीरवृद्धिर्धनं च कर्त्तव्यम् । ( सत्यमिति० ) मनुष्यः सदा सत्यवस्तैव  
भवेदिति राधीनराचार्यस्य मतमस्ति । ( तप इति० ) यद्वतादिसेवनेनैव सत्य-  
निग्राचर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुषिष्टेराचार्यस्य मतमस्ति ।  
परन्तु नारीर्माद्गन्धर्व्येदं मतमस्ति—स्वाध्यायो वेदनिद्याध्ययनं, प्ररचनं  
तदध्यापनं चेतुभवं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोऽस्ति,  
नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किञ्चिद्विद्यत इति ॥ १ ॥

( वेदमनूष्या० ) आचार्यः त्रिप्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपादिशति—हे  
त्रिप्य ! त्वया सदैव मत्समेव वक्तव्यं. मत्समापणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः ।  
शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये । आचार्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्म-  
वृद्धलक्षधर्म्यमंशधनसेवने मर्दय कर्त्तव्ये ॥ [१] ॥ देवा रिद्रांसः, पितरो ज्ञानिनश्च,  
तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च मर्दय कार्प्यमेवं भावुपिग्राचार्यातिथीनां सेवनं  
चैतत्परं नग्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या



मात्रादय उपदिशेयुः—भोः पुत्रा यान्युत्तमानि कर्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि । यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि ॥ [ २ ] ॥

येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नैतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहादानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य ! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत् ॥ [ ३ ] ॥ तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ॥ [ ४ ] ॥

भाषार्थ—तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं—( श्रुतं च० ) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें । उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायँ । ( सत्यं च ) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो, वैसा ही बोलो और उसी को मानो । उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो । ( तपश्च० ) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो । ( दमश्च० ) अपनी आँख आदि इन्द्रियों को अघर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ । ( शमश्च० ) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो । ( अग्नयश्च० ) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो । तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उत्पत्ति करो । ( अग्निहोत्रं च० ) वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो । ( अतिथयश्च० ) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान्, सबका सुख चाहने वाले हों, उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो । ( मानुषं च० ) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो । ( प्रजा च० ) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा

तर्था बन्ताते रहो । ( प्रजनश्च० ) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार 'पुत्रेष्टि' कहते हैं, उसमें श्रेष्ठ योजन और ओषध सेवन सदा करते रहो, त ठीक ठीक गर्भ की रक्षा भी करो । ( प्रजातिश्च० ) पुत्र और कन्याओं के जन्म में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो ।

श्रुत से लेके प्रजापति पर्यन्त धर्म के जो चारह लक्षण होते हैं, उन सब के स श्राभ्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है, सो इसलिये है कि पूर्वो० जो धर्म के लक्षण हैं, वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्यविद्या को पढ़ें, और तभी सदा सुख में रहेंगे । क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है । इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ श्राभ्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है । सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये । ( सत्यमिति० ) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो । ( तप इति० ) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो, अर्थात् विद्या का जो पढ़ना पढ़ाना है, यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥

( वेदमन्त्र्या० ) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है, वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इन प्रकार उपदेश करे कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोलो करो । और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो । इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो । आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो । और गुणारण्या में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो । तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो । कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके, भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥

( देवपितृ० ) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो । माता, पिता आचार्य अर्थात् विद्या के देने वाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुण्य हैं, उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो । ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो । किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो । माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करे कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं ॥ [ २ ] ॥

जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के षचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अप्रीति से, श्री वा लज्जा से, मय अयना प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ । और जब तुम को किसी बात में सन्देह हो । ॥ [ ३ ] ॥ तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो । वे लोग जिस जिस प्रकार से जिस जिस धर्म काम में चलते हों, वैसे ही तुम भी चलो । यही आदेश, अर्थात् अविद्या को

हटा के उस के स्थान में विद्या का, और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥ [ ४ ] ॥

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मतदुपास्वैतत्तपः ॥

तत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ५ ॥

भाष्यम्—इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—( ऋतं० ) यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च, ( सत्यं० ) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च, ( श्रुतं० ) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च, ( शान्तं० ) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, ( दमस्त० ) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्माभिवर्त्तनं च, ( शमस्त० ) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, ( दानं त० ) तथा सत्य-विद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, ( यज्ञस्त० ) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति । अन्यच्च—( भूर्भु० ) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यन्तं नातो विपरीतमिति ॥

साध्यार्थ<sup>१</sup>—( ऋतं तपः० ) तप इसको कहते हैं कि जो 'ऋत' अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, 'श्रुत' अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, 'शान्त' अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो। तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है ॥

सत्यं परं परःसत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताः हि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते । तप इति तपो नानशनत्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि रमन्ते । दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दे रमन्ते । शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते । दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने रमन्ते । धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे रमन्ते । प्रजन इति भूयाःसत्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते । अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः [ १ ] अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते । यज्ञ इति यज्ञेन

हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे रमन्ते । मानसमिति विद्वांसस्तस्माद्विद्वांस एव मानमे रमन्ते । न्याम इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपांसि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एनं वेदेत्युपनिषत् ।

प्राजापत्यो हऽऽहूणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार, किं भगवन्तः परमं वदन्तीति, तस्मै प्रोवाच—सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, मत्स्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रशुदामागतीस्तपमि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः परमं वदन्ति । दमेन दान्ताः किल्बिषमवधृन्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमं परमं वदन्ति । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्यविन्दच्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं परमं वदन्ति । दानं यज्ञानां बहूथं दक्षिणा, लोके दातारश्च सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपातुदन्त, दानेन द्विपन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं परमं वदन्ति । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्षन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति । प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके, साधु प्रजायास्तनुं तन्वानः पितृगामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं परमं वदन्ति ।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्यसूक् पृथिवीरथन्तरमन्या-  
हार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामेदेव्यमाहवनीयः साम सुपर्णो लोको बृहत्तस्मादग्नी-  
न्यरमं वदन्ति । अग्निहोत्रश्च सायत्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टश्च सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रापणश्च सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति । यज्ञ इति यज्ञेन

१—तैत्ति० आरण्यक म उपलक्ष्यशाठ—तस्माद्दम ॥ स० ॥

२—तैत्ति० आरण्यक मे उपलक्ष्यशाठ—तस्माच्छम ॥ स० ॥

३—तैत्ति० आरण्यक म उपलक्ष्यशाठ—प्रापणश्च ॥ स० ॥

हि देवा दिवंगता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति । मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति । तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२, ६३ ॥

भाष्यम्—[ अयमभिप्रायः ]—( सत्यं प० ) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव । कुतः ? सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति । तस्मात्कारणात्सर्वधर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ॥

[ भाषार्थ ]—( सत्यं परं० ) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है । सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है । सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है । जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते । इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये । ( तप इति० ) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [ न ] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है । इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है । ( दम इति० ) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये । ( दानमिति० ) दान की स्तुति सब लोग करते हैं, और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये ।

( धर्म इति० ) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म में हैं । क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म कहते हैं । यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है । सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये । ( प्रजन इति० ) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं । ( अग्नय इत्याह० ) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब

शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्र च०) अग्निहोत्र में लेके अध्वेय पर्यन्त होम करके सत्र जगन् का उपहार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानस मिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं, वे ही विद्वान् होते हैं। इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं, क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इससे मन का बल और उमकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति०) ब्रह्मा धन के, अर्थात् चारों वेद की ज्ञान के, सत्तारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् सन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुँचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण ज्ञान के करना उचित है।

(सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उससे सब लोगों का प्रसाध और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सत्र काम मोघ आदि शत्रुओं को ज्ञात के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन कर के विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग ब्रह्माण्ड का ही आचरण करते हैं, इससे यह धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ, अर्थात् दाता के आश्रय से सत्र प्राणियों का जीवन होता है, और दान से ही शत्रुओं को भी ज्ञात कर अपना मित्र कर लेते हैं, इससे दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मो वि०) सत्र जगन् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सत्रसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजनन०) जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है, और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से श्रेष्ठ अपना उद्वेग का पूरा करना होता है, इससे प्रजनन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्य का उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो।

(अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग साक्षोपाद्ध तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं, इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्र) प्रातः काल में सथा और वायु तथा शृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति०) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीव के अपना मित्र कर लेते हैं, इससे विद्या और अप्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानस वै०)

मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को ज्ञान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है, और उसमें जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्वृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्थ परमं निधानम् ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषद् मु० ३ । खं० १ । मं० ५, ६ ॥

भाष्यम्—अनयोरर्थः—( सत्येन लभ्य० ) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥१॥

(सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च । तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तप्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्चते । तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति, नान्यथेति । अत एव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति ॥ [ २ ] ॥

भाषार्थ—( सत्येन लभ्यस्तपसा० ) अर्थात् जो सत्यआचरणरूप धर्म का अनुष्ठान ठीक ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है । जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं । सो सब के आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है । उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥

( सत्यमेव जय० ) जो सत्य का आचरण करने वाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है, और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है, वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है । विद्वानों का जो मार्ग है, सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है । जिस मार्ग से आप्तकाम,

धर्मात्मा विद्वान् लोकां च लोके सत्यसुर को प्राप्त होते हैं, जहाँ ब्रह्मा ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, मत्स्य से ही उस भुव को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है ॥ ३ ॥

अन्यच्च—

‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ १ ॥’ सू० श्री० अ० १ । पा० १ सू० २ ॥

‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसासिद्धिः न धर्मः ॥ २ ॥’

ब्रह्मेतिके अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥

अन्योरर्थः—( चोदना ) वेदद्वारा या सन्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते । योऽनर्थोदधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति । यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्व-मनुष्यैस्त्याज्यं हति ॥ १ ॥

( यतोऽभ्यु० ) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः । अतो विपरीतो अधर्मश्च । इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति ॥ २ ॥

इत्यनेकमन्त्रप्रमाणमाध्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टो-  
ऽस्ति, एक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति, नैव चास्माद् द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम् ।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः

भाषार्थ—( चोदना० ) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त, अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥

( यतोऽभ्यु० ) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और नि श्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है ॥ २ ॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है, कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः



# अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः



नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरो यत् ।  
 किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्बभूवः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥  
 न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहं आसीत्प्रकेतः ।  
 आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यव परः किं चनास ॥ २ ॥  
 तम आसीत्तमसा गुदमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।  
 तुच्छयेनाभ्रपिहितं यदासीत्पसुस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥  
 कामदस्तग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।  
 सुतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या क्वयों मनीषा ॥ ४ ॥  
 तिरश्चीनो विततो रश्मिरपामधःस्विदासीद्दुपरि स्विदासीद् ।  
 रेतोधा आसन्महिमानं आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः पुरस्तात् ॥ ५ ॥  
 को अद्धा वेदं क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।  
 अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥  
 इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।  
 यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्तसो अङ्ग वेदं यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

श्रु० अ० ॥ १ ॥ प्र० ७ । व० १७ । [ मं० १-७ ] ॥

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायार्थः—यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमे-  
 श्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते । पुनः पुन-  
 रेवमेव सदा क्रियत इति ।

( नासदासी० ) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्य-  
 भाकाशमपि नासीत् । कुतः ? तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानभावात् । ( नो सदासीत्त-  
 दानीं ) तस्मिन्काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो  
 आसीन्नावर्त्तत । ( नासीद्र० ) परमाणवोऽपि नासन् । ( नो व्योमापरो यत् ) व्योमा-  
 काशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत् । किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्य-  
 मतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत । ( किमावरीवः० )

यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले' धूमाकारेण घृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति, यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति, अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? नेत्याह । किंवावरीवः, आवरकमाच्छादकं भवति ? नैव कदाचित्, तस्यातीवान्पत्वात्, तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पत्त्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि । किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? नेत्याह । अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैरावरकं भवति । कुतः ? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥१॥

न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेव भाष्ये वक्ष्यामि ॥ [ २-६ ] ॥

( इयं विसृष्टिः ) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवो-  
त्पन्नानीदृशति । तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा  
न रचयति । योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, ( परमे व्योमन् ) तस्मिन्परमाकाशात्मनि  
परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे  
सर्वस्याधिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति । ( सोऽध्यक्षः ) स सर्वाध्यक्षः  
परमेश्वरोऽस्ति । ( अङ्ग वेद ) हे अङ्ग मित्र जीव । तं यो वेद स विद्वान् परमा-  
नन्दमान्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं  
कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थः—( नासदासीत् ) जय यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक  
सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री  
विराजमान थी । उस समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं  
आता, सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था । ( नो सदासीत्तदानीं )  
उस काल में 'मत्' अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता  
है, वह भी नहीं था । ( नासीद्रजः ) उस समय परमाणु भी नहीं थे । तथा ( नो व्यो० )  
विराट् अर्थात् जो सय स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । ( किमा० )  
जो यह वर्त्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता, और उससे  
अधिक वा अयाह भी नहीं हो सकता, जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता  
है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता, और न वह कभी गहरा वा उबला  
हो सकता है । इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है, और जो यह उसका  
पनाया जगत् है, सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥

( न मृत्यु० ) जय जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जय स्थूल

जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो, पुनः उसका और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे ।

‘न मृत्युः’ इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे ॥ [ २-६ ] ॥

( इयं विसृष्टिः० ) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है । हे मित्र लोगो ! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है, और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है । जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है । और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारण रूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है, और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुत्तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

अ० अ० ८ । अ० ७ । व० ३ । मं० १ ॥

भाष्यम्—( हिरण्यगर्भः ) अग्रे सृष्टेः प्राग्धिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्या-  
स्योत्पन्नस्य जगत् एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं  
सकलं जगद्रचयित्वा ( दाधार ) धारितवानस्ति । तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा  
वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भावार्थ—( हिरण्यगर्भः ) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहिले  
वर्त्तमान था । जो इस सब जगत् का स्वामी है, और वही पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त सब  
जगत् को रच के धारण कर रहा है । इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम  
लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं स्वर्गं स्पृत्वाऽत्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

य० अ० ३१ । मं० १० ॥

भाष्यम्—( सहस्रशीर्षा० ) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति,  
सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च । अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि—

‘पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् ॥’ निरु० अ० १ । खं० १३ ॥

( पुरि० ) संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः ।

‘पुरुष पुरिषादः पुरिश्रयः, पूरयतेर्वा । पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—  
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्’ । वृक्ष इव  
स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण<sup>१</sup> सर्वमित्यपि निगमो भवति ॥’

वि० अ० २ । सं० ३ ॥

( पुरुषः ) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति, ( पूरयतेर्वा )  
यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः ।  
( अन्तरिति० ) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तम-  
न्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति—

( यस्मात्परं० ) यस्मात् पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किञ्चिदपि  
वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, ( नापरमस्ति ) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा  
किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव । तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा  
किञ्चिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यस्तब्धो  
निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोऽस्ति । क इव ? ( वृक्ष इव ) यथा वृक्षः  
शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्पर-  
मेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति । यएवैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो  
विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत् इदं  
सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो  
निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् ।

‘सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासीत्यादि ॥

स० अ० ७ । अ० ५ । [ आ० २ । अ० १२ ] ॥

( सर्वं० ) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् ।

( सहस्रशी० ) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णं पुरुषे  
परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः, ( सहस्राक्षः स० ) अस्मदादीनां सहस्राण्यसीणि  
यास्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्चन्ते, स सहस्राक्षः सहस्र-  
पाद्य । ( स भूमिः सर्वत स्पृत्वा ) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो,

१. निष्कम्प मे तथा सं० आ० प्रपा० १० अनु० १० मे उपलब्ध पाठः कश्चित् ॥ सं० ॥

२. निरक्त मे तथा सं० आ० प्रपा० १० अनु० १० मे उपलब्ध पाठः—पुरुषेण ॥ सं० ।

भूमिरिति भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्तते । ( अत्य० ) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदयोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च, पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सच्चवस्थितः । अर्थाद्बहिरन्तरच्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽत्रतिष्ठत इति वेद्यम् ॥ [ १ ] ॥

भाषार्थ—( सहस्रशी० ) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं । 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उसमें जो सर्वत्र व्याप्त, और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है । इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना ।

[ ( सहस्रशी० ) ] सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है, सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है । जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो । ( स भूमिः सर्वत स्पृत्वा ) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है । ( अत्यतिष्ठत् ) दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है । पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं । तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार, और दसमा जीव, और शरीर में जो हृदयदेश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है । जो इन तीनों में व्यापक हो के इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहाता है । क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनानेवाला है ॥ १ ॥

पुरुष एवेदः सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदब्रैनातिरोहति ॥ २ ॥

भाष्यम्—( पुरुष एवे० ) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः ( यद्भूतं ) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद्भाव्यमुत्पत्तस्यमानं चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं

पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः । नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेत-  
व्यम् । उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी  
दातास्ति । नैवेतदाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति । पुरुषो यद्यस्मादनेन पृथिव्या-  
दिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति, तस्मात्स्वयमजः  
सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्म्यं जगदुत्पादयति । नास्यादिकारणं  
किञ्चिदस्ति किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( पुरुष एवे० ) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो  
जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा, और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत्  
को वही रचता है । उससे भिन्न कोई दूसरा जगत् रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह  
( ईशान ) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है । ( अमृत ) जो मोक्ष है, उसका देने वाला एक वही  
है, दूसरा कोई नहीं । सो परमेश्वर ( अज० ) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक  
होके स्थित है, और इससे अलग भी है । क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है,  
और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है, और आप कभी जन्म नहीं  
लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाश्च पुरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—( एतावानस्य० ) अस्य पुरुषस्य भूतमपिष्यद्वर्त्तमानस्यो  
यावान् संसारोऽस्ति, तावान्महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेच्छर्हि तस्य  
महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? अत्र अत्रे—( अतो ज्यायाश्च पुरुषः )  
नैतान्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि ? अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति  
गम्यते । अत्राह—( पादोऽस्य ) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य ( विश्वा ) विश्वानि  
प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं  
निश्चं वर्त्तते, ( त्रिपादस्या० ) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षमुखमस्ति,  
तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाशमानं जगदेकगुणमस्ति,  
प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः,  
सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( एतावानस्य० ) तीनों काल में जितना संसार है, सो सब इस  
पुरुष का ही महिमा है । प्र०—अब उसके महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा ?  
उ०—( अतो ज्यायाश्च पुरुष ) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि ( पादोऽस्य

विश्वामृतानि ) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एकदेश में वसता है । ( त्रिपादस्यामृतं दिवि ) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है, सो उससे त्रिगुणां है । तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहामवत्पुनः ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम्—( त्रिपाद० ) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति, तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथग्भवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति । स च त्रिपादसंसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्रुतुष्पाद्भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्तते । पुनर्यसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः ( उदैत् ) उदितः प्रकाशितो वर्तते । ( ततो वि० ) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते । किंच तत् ? ( साशनानशने० ) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादि सहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिन्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्तते, तदुभयं तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुन्दरीत्या सर्वात्मतयाऽश्नति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य ( अभिव्यक्रामत् ) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥४॥

भाषार्थ—( त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु० ) पुरुष जो परमेश्वर है, सो पूर्वोक्त त्रिपाद जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है । तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक, और सबसे अलग भी है । ( पादोऽस्येहामवत्पुनः ) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित् मात्र देश में है । और जो इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं । इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है, और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है । ( ततो विष्वङ् व्यक्रामत् ) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है । ( साशनान० ) सो दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है, और दूसरा अनशन, अर्थात् जो जड़, और भोजन के लिये बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है, और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता । परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है, कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है । सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो

प्रकार के जगन् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है । वह पुरुष इसका बनाने वाला, संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके देय रहा, और वही सब जगन् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

ततो विराट्जायत विराजो अधि पुरुषः ।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—( ततो विराट्जायत ) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो, वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याखलङ्कारलक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः मन्, विराट् अजायतोत्पन्नोऽस्ति ( विराजो अधिपुरुषः ) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत् ( स जातो अ० ) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नैव प्रलीयत इति । परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति ( पश्चाद् भूमिमथो पुरः ) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवान्स्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोऽपि देहं धारितवानस्ति । स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ—( ततो विराट्जायत ) विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्यान्तो हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह आकाश है, सो विराट् कहाता है । यह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है । ( विराजो अधि० ) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिसमें सब जीव वास करते हैं, और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, ( स जातो अत्यरिच्यत ) सो विराट्, परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है । ( पश्चाद् भूमिमथो पुरः ) फिर भूमि आदि जगन् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्मर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।

पुशंस्तौञ्चक्रे वाप्यनारण्या ग्राम्याञ्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्—( तस्माद्य० ) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्माद् परमेश्वराद् ( संभृतं पृषदाज्यम् ) 'पृषु सेवने' धातुः, पर्पन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निष्ट-त्वादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिस्तत्पृषद्, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च । पृषदिति



भक्ष्यान्नोपलक्षणम्\*, आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम् । यावद्वस्तु जगति वर्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति । अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वरो एवोपास्यो, नान्यश्चेति । ( पशून्स्तांश्चक्रे० ) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे । चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( तस्माद्यज्ञात्स० ) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है । पूर्वोक्त पुरुष से ही ( संसृतं पृषदाज्यम् ) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है । क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए, और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है । इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उसको छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें । ( पशून्स्तांश्चक्रे० ) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है । और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वंहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( तस्माद्यज्ञात्सर्वंहुत ऋचः० ) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्तु ये के चोभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—( तस्मादश्वा० ) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेशामुचमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः । ( ये के चोभयादतः ) उभयतो दन्तो येषां त उभयादतो, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्हभादयस्तेऽप्यजायन्त । ( गावो ह ज० ) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणारचेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि । ( तस्माज्जाता अजा० ) एवमेव चाजाश्वागा अवयवच जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( तस्मादथा वजायन्त ) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अन्ध अर्थात् घोरे और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। ( ये के चोभयादतः ) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं, उन पशुओं को 'उभयदंत' कहते हैं, वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। ( गावो ह ज० ) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, प्रविषी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। ( तस्माज्जाता ज० ) इसी प्रकार छेरी और मेढ़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं वहिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।  
तेन देवा अयजन्त साध्याः श्रपयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्—( तं यज्ञं य० ) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं वहिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, ( तेन देवा० ) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिनः, श्रपयो मन्त्र-प्रधारक, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मनुष्ठानं कुर्वुरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( तं यज्ञं यहि० ) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को, जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अन्धे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है। ( तेन देवा अयजन्त सा० ) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से, ( देवाः ) जो विद्वान्, ( साध्याः ) जो ज्ञानी लोग, ( श्रपयश्च ये ) श्रपि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुरी होते हैं। क्योंकि मन्त्र श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये, और दृष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा ध्यकल्पयन् ।  
सुरां किमस्यासीत्किं वाह किमूत पादा उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्—( यत्पुरुषं व्य० ) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं, कतिधा कियत्प्रकारैः ( व्यकल्पयन् ) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः, ( व्यदधुः ) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधमामर्थ्यकथनेनादधुरथादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। ( मुखं कि० ) अस्य पुरुषस्य सुरां मुख्यगुणैर्मयः किमुत्पन्नमासीत् ? ( किं वाह ) बलवीर्यादिगुणैर्मयः किमुत्पन्नमा-

सीत् ? ( किमूरु ) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? ( पादा उच्येते )  
पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते ? अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

भाषार्थ—( यत्पुरुषं० ) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है । ( कतिधा व्य० ) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं । क्योंकि उसमें चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है । अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं । ( मुखं किमस्यासीत् ) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? ( किं बाहू ) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है ? ( किमूरु ) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ? ( पादा उच्येते ) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥’

भाष्यम्—( ब्राह्मणोऽस्य० ) अस्य पुरुषस्य मुखं, ये विद्यादयो मुख्य-  
गुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति, तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो  
भवतीति । ( बाहू राजन्यः कृतः ) बलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन  
कृत आहूत आसीदुत्पन्नो भवति । ( ऊरू तदस्य० ) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्य-  
मास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वैद्यम् । ( पद्भ्यां  
शूद्रो० ) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणैर्भ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः  
पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वैद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णा-  
श्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते । ‘छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥’ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥  
इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ—( ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या,  
सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म  
और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । ( बाहू राजन्यः कृतः ) और  
ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है ।  
( ऊरू तदस्य० ) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन  
आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है । ( पद्भ्यां शूद्रो० ) जैसे पग सबसे नीच  
अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । इस विषय के प्रमाण  
वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखोदगिरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्—( चन्द्रमा मनसो० ) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीला-  
त्सामर्थ्यचिन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति, तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्यो अजायत  
उत्पन्नोऽस्ति, ( श्रोत्राद्वा० ) श्रोत्रकाशमयादाकाशो नम उत्पन्नमस्ति, वायुमया-  
द्वापुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुखा ज्योतिर्मया-  
दग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

भाष्यार्थ—( चन्द्रमा० ) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से  
चन्द्रमा, और तत्पत्न्यरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ है । ( श्रोत्राद्वा० ) श्रोत्र अर्थात् अवकाश-  
रूप सामर्थ्य से आकाश, और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सप्त इन्द्रिया  
भी अपने अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं । और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न  
हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्चत ।

पृथ्व्यां भूमिर्दिशः श्रोत्राचक्षो लोकाँः अकल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्—( नाभ्या० ) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अशकाशमयात्सामर्थ्या-  
दन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवद्भुजसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् ( द्यौः )  
सूर्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्चत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्चते, ( पृथ्व्यां भूमिः )  
पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिस्त्पादितास्ति, जलं च, ( दिशः  
श्रो० ) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति, ( तथा लोकाँ २ ॥  
अकल्पयन् ) तथा तैर्नैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्याद्भिन्यान्सर्वा लोका-  
स्तदस्थान् स्थावरजङ्गमान्यदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

भाष्यार्थ—( नाभ्या आसीदन्त० ) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से  
अन्तरिक्ष, अर्थात् जो भूमि और सूर्य आदि लोकों के बीच में पोल है, सो भी नियत  
किया हुआ है । ( शीर्ष्णो द्यौः ) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सप्त लोकों के प्रकाश  
करने वाले सूर्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । ( पृथ्व्यां भूमिः ) पृथिवी के परमाणु  
कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण  
से उत्पन्न किया है । ( दिशः श्रोत्रात् ) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न  
किया है । ( तथा लोकाँ २ ॥ अकल्पयन् ) इसी प्रकार सप्त लोकों के कारणरूप सामर्थ्य  
से परमेश्वर ने सप्त लोक और उनमें बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इष्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—( यत्पुरुषेण० ) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद् यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते—( वसन्तो० ) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । ( ग्रीष्म इष्मः ) ग्रीष्मर्तुः रिष्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । ( शरद्धविः ) शरद्धतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( यत्पुरुषेण० ) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं । और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं । ( वसन्तो० ) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख, घृत के समान है । ( ग्रीष्म इष्मः ) ग्रीष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है । श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्तिक शरद् ऋतु । मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु । और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है, यह इस यज्ञ में आहुति है । सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—( सप्तास्या० ) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति—समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः, मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः, दृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्पष्टः, सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः । ( त्रिः सप्त समिधः कृताः ) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति । प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं

चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः । पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकप्रतिभयन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि । एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । ( देवा य० ) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः ( अयधन् ) ध्यानेन यध्नन्ति । तं निहायेधरत्वेन कृत्वापि ध्यानं नैव यध्नन्ति, नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाष्यार्थ—( सप्तम्या० ) ईश्वर ने एक एक लोक के चारों ओर सात सात परिधि ऊपर ऊपर रची है । जो गोल चोख के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं । सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक एक के ऊपर सात सात आवरण बनाये । एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा पृथिवीजल, और पाचमा पृथिवीजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनस्त्रय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनस्त्रय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं । ( त्रि सप्त समिध० ) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है । जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, दूसरा श्रोत्र, तीसरी खचा, चौथा नेत्र, पाचमी जिह्वा, छठी नासिका, सातमी वाफ, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपरिध, जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं, बारहमा जन्तु, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं । ( देवा य० ) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, मनका देने वाला और पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उमी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं । उसको छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना । और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ धाधने से कल्याण जातते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नार्कं महिमानः सचन्त यत् पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—( यज्ञेन यज्ञम० ) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, पूजन्ते, यक्ष्यन्ति च । तान्येन धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मस्य आदौ सर्वैर्मुपैः कर्त्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्व कृतैर्निना केनापि किञ्चित्कर्म कर्त्तव्यमिति । ( ते ह ना० ) त ईश्वरोपासना, हेति प्रसिद्धं नार्कं सर्वदुःखरहितम् परमेश्वरं मोक्षं च, महिमानः पूज्याः सन्तः

सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत् ? ( यत्र पूर्वे साध्याः० ) साध्याः साधनवन्तः  
कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षस्थे परमे पदे सुखिनः सन्ति ।  
न तस्माद् ब्रह्मणश्चतुर्वर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति, किन्तु तमेव  
समसेवन्त ।

अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत्तमाल-  
भन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं  
महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः, साधनाः, द्युस्थानो  
देवगण इति नैरुक्ताः ॥ निरु० अ० १२ । ख० ४१ ॥

अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव  
देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकमग्निनापि यज्ञं देवा  
समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो, यत्र पूर्वे पूर्वं भूता मोक्षस्थानन्दे पदे  
सन्ति । तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः  
प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्यप्राणस्थानाः  
विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्तत इति ॥ १६ ॥

भाषार्थ—( यज्ञेन यज्ञम० ) विद्वानों को देव कहते हैं, और वे सब के पूज्य होते  
हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि  
विधान से पूजा करते हैं । इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर  
की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें । ( ते ह नाकं० ) जो जो ईश्वर की  
उपासना करनेवाले लोग हैं, वे वे सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते  
हैं । ( यत्र पूर्वे सा० ) जहाँ विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य  
आनन्द में रहते हैं, उसी को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों  
में कभी नहीं गिरते । इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर  
के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं,  
उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १२ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

भाष्यम्—( अद्वयः संभृतः० ) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसाः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशादाधुराकाशादुत्पादितः । आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा, तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्तते वर्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेष्टमिति । तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा ग्वनकत्वेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनरचेदं विश्वं रूपवच्चमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवच्चं भवति । ( आजानमग्रे ) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय—धर्मयुक्तेनैव, मकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षारूपं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—( अद्वयः संभृतः० ) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है । इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तथ्यों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके प्राप्त परमैत जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचने होने से उसका नाम विश्वकर्मा है । जन जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से प्रथमान था । ( तत्प० ) जब जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है, तब वह कार्यरत्नगत् रूपगुणवाला होके स्पृष्ट वन के देहने में आता है । ( तन्मत्वेत्य देवत्वमा० ) जन परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्मे करके देव कहाते हैं, और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी जन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम है । इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को पलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है, और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेवं पुरुषं मुहान्तर्मादित्यवर्णं वर्मसः प्रस्तातु ।

समेव विदित्वाति मृत्युर्मति नान्यः पन्था विद्यतेऽप्येताय ॥ १८ ॥

भाष्यम्—( वेदाहमेवं पु० ) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छयते ?



तदुत्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, बृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः । नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति । कुतः ? ( तमेव विदित्वा० ) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षारूप्यमानन्दमेति प्राप्नोति, नैवातोऽन्यथेति । एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्येति गम्यते । कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्येति ? ( नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ) इति वचनात् । अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिक-सुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते । किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः । अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वरूपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( वेदाहमेतं ) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं । जो सब से बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला, और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ । उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता । क्योंकि ( तमेव विदित्वा० ) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देने वाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है । इसमें यह प्रमाण है कि ( नान्यः पन्था० ) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।

तस्य योनिं परिं पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्बुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

भाष्यम्—( प्रजापति० ) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन्नित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादिदेवं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । ( तस्य योनिं० ) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्माजिष्ठानं वेदविज्ञानमेव

प्राप्तिकारणं, धीरा ध्यानमन्तः ( परिपश्यन्ति ) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते । ( तस्मिन्ह तत्सुष्ठु० ) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्गाणि सर्वे लोकास्तत्सुः स्थितिं चाकिरे । हेति निश्चयायै, तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्य स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—( प्रतापति० ) जो प्रता का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्वर्धामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने साथ सब अजन्मा रहता है । ( तस्य योनि० ) जो उस परमात्मा की प्राप्ति का कारण, सब का आधार और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देव के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । ( तस्मिन्ह त० ) जिसमें ये सब भुवन अर्थात् लोक बहुर रहे हैं, वसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सब निश्चय से मोक्षप्राप्त हो प्राप्त होके, जन्म मरण आदि जाने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

‘यो देवेभ्य आत्तर्पति यो देवानां पुरोहितः ।

पूरां यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥ २० ॥’

भाष्यम्—( यो देवेभ्य० ) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकारार्थ-  
मातपति आममन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां त्रिदुषां  
पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह भोक्ते त्रिदुषो दधाति । ( पूरां यो देवेभ्यो जातो )  
देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्चमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति,  
( नमो रुचाय० ) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो  
विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मचिन्मात्रादिब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्तमानोऽस्ति, तस्मा  
अपि ब्राह्मणे ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ—( यो देवेभ्य० ) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदाप्रकाशरूप है,  
अर्थात् उनके आत्माओं को प्रकाश में कर देता, और वही ब्रह्मा पुरोहित अर्थात् अत्यन्त  
सुखा से भाग्य और पोषण करनेवाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते ।  
( पूरां यो देवेभ्यो जातो ) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान  
से प्रसिद्ध अर्थात् श्रेष्ठ होता है, ( नमो रुचाय० ) उस अत्यन्त आनन्दरूप और सत्य  
में रुचि करनेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो । और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को  
प्राप्त पद के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान ज्ञान के, सत्यमाय से प्रेम प्रीति  
करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते  
हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्—( रुचं ब्राह्मं० ) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्वेषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च । ( यस्त्वैवं० ) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म-ब्राह्मणो विद्यात्, ( तु ) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ—( रुचं ब्राह्मं० ) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है । जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं । ( यस्त्वैवं ब्राह्मणो० ) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में होजाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

‘श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्याप्तम् ।

इष्णुर्निषाणामुं मे इषाणि सर्वलोकं मे इषाण ॥ २२ ॥’ य० अध्याय २१ ॥

भाष्यम्—( श्रीश्च ते० ) हे परमेश्वर ! ते तव ( श्रीः ) सर्वा शोभा ( लक्ष्मीः ) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथा-होरात्रे द्वे ते तव पार्श्वे पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयव-वद्वर्त्तते सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ धावापृथिव्यौ तवैव व्याप्तं विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत्किञ्चित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर ! मे ममाहुं परलोकं मोक्षार्थं पदं कृपाकटाक्षेण ( इष्णुन् ) इच्छन्सन् ( इषाण ) स्वेच्छया निष्पादय । तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्धं कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण । हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय । सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति । अत्र प्रमाणानि—

‘श्रीर्हि पशवः ॥ श० का० १ । अ० ८ । [ ब्रा० १ । कं० ३६ ] ॥

‘श्रीवै सोमः ॥’ श० कां० ४ । अ० १ । [ ब्रा० २ । कां० ६ ] ॥

‘श्रीवै राष्ट्रं ॥’ ‘श्रीवै राष्ट्रस्य भारः ॥’

श० कां० १३ । अ० २ । [ ब्रा० ६ । कां० २, ३ ] ॥

‘लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यनाद्वा, लञ्छनाद्वा, लपतेर्वा स्यात्प्रेप्ता-  
कर्मणो, ‘लञ्जतेर्वा स्यादस्लाषाकर्मणः, शिप्ने इत्युपरिष्ठाद्वास्यास्यामः ॥’

निरु० अ० ४ खं० १० ॥

अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्त्याख्या समाप्ता

भाषार्थ—( श्रीश्च ते० ) हे परमेश्वर । जो आपकी अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है, ये दोनों श्री के समान हैं । अर्थात् जैसे श्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आपही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है । परन्तु ये सब शोभा और सत्यमायणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं । सब पदार्थ ईश्वर के आपीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है । वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं, तथा सूर्य और चन्द्र भी दोनों आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानों हैं । और जितने ये नक्षत्र हैं, वे आपके रूपबानी हैं । और धौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विशुद्ध्यर्थी विजुली, ये दोनों सुप्तस्थानी हैं । तथा ओठ के तुल्य और जैसा मुला मुस होता है, इसी प्रकार पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में जो पोख है, सो मुख के सदृश है । ( इत्यनु० ) हे परमेश्वर । आपकी दया से ( अमुं ) परलोक जो मोक्षसुख है, उसको हम लोग प्राप्त होते हैं । इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो । तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊँ, वैसी कृपा और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये । यह आपसे हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्त्याख्या समाप्ता

यत्परममव्ययं यन्त्र मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।

निर्यता स्कन्धः प्र विवेश तत्र यत्र प्राविशत् कियत्तद्भूव ॥

अथर्व० वां० १० । [ प्रपा० २३ ] । अनु० ४ । अ० ५ ॥ [ १० । ७ । ८ ]

१. अत्र “लपतेर्वा स्यादस्लाषाकर्मणो” इत्यधिकः पाठो निरुक्ते ॥ ८० ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० ११ । [ प्रपा० २५ ] । अनु० ४ । मं० २७ ॥—[ ११ । ७ । २७ ]

भाष्यम्—( यत्परमं ) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् यच्च ( अवमं ) निरुष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, ( यच्च म० ) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव, ( ससृजे वि० ) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, ( कियता० ) 'एतस्मिन्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविशेश, न चैतत् परमेश्वरे, ( यन्न० ) यस्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्क्रियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥

( देवाः० ) देवा विद्वांसः सूर्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्चन्ते, [ ( उच्छिष्टा० ) ] ते सर्व उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये ( दिवि देवा दिविश्रितः ) दिवि देवाः सूर्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो<sup>१</sup> लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति ॥ २ ॥

इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ।

इति संचेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

भाषार्थ—( यत्परम० ) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है । उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे भी कुछ कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सबको रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥

१. एतस्मिन्त्रित्यारम्य क्रियद्बभूवेतिपर्यन्तसन्दर्भस्थाने 'सृष्ट्वा, त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविशेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्क्रियद् बभूवेति" हस्तलिखितभूमिकायां पाठः ॥ सं० ॥

२. दिविश्रितश्चन्द्रपृथिव्यादयो ॥ सं० ॥

( देवाः ) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्यलोक भी, ( पितरः ) [ ज्ञानी ] अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, ( मनुष्याः ) अर्थात् विचार करने वाले, ( गन्धर्वाः ) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्यादि लोक और ( अप्सरसः ) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी, ( उच्छ्र० ) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । ( दिवि देवाः ) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक और ( दिविश्रिताः<sup>१</sup> ) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥

वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु बहुत अधिक न हो जाय, इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ॥

इति सृष्टिविद्याविषयः

# अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः



अथेदं विचार्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते—  
वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमण-  
विषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

य० अ० ३ । मं० ९ ॥

भाव्यम्—अस्याभिप्रायः—‘आयं गौ’रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि  
सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् ।

( आयं गौः ) अयं गौ पृथिवीगोलः, सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्नि-  
मन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि । तत्र पृथिवी मातरं  
समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा ( स्वः ) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः  
पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं  
च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि—

गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते  
निघण्टौ [ अ० १ । खं० १ ] ॥

तथा च—

स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु ॥ [ निघण्टु अ० १ । खं० ० ] ॥

पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते । [ २ । १४ ] ॥

‘गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि  
गच्छन्ति ॥’ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥

‘गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत्  
पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥’

निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

‘सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥’

निरु० अ० २ । खं० ६ ॥

‘स्वरादित्यो भवति ॥’ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । 'अद्भ्यः पृथिवी'ति तैत्तिरीयो-  
पनिषदि [ प्र० ६० अनु० १ ] । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति, तथा  
स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते ।  
यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्याद् गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य  
स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्ती भ्रमन्तीति मिद्वान्तो  
बोध्यः ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—अथ सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं,  
इस विषय में लिखा जाता है । इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और बुद्धि  
से भी पृथिवी और सूर्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है—

( आय गौ० ) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी-  
अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है, सो  
पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने  
परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के  
समान सदा रहती है । और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर  
घूमती है । इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि  
पिता और जल माता । उनके प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी अपनी  
कक्षा में सदा घूमते हैं ।

इस विषय का संस्कृत में निष्कृत और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उसको देख  
लेना । इसी प्रकार मूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का  
धारण और भ्रमण होता है । तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों  
का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तन्ति पृथ्वीं निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।

सा प्रमुखा वरुणाय दाशुपे देवेभ्यो दाशद्विषां विवस्वते ॥ २ ॥

ऋ० प्र० ८ । अ० २ । व० १० । म० १ ॥

भाष्यम्—( या गौर्वर्त्तन्ति० ) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तन्ति स्वकीयमार्ग ( अवा-  
रतः ) निरन्तरं भ्रमती सती, पृथ्वीं विवस्वतेऽर्थात्स्वर्गस्य परितः सर्पतः स्वस्व-  
मार्गं गच्छति । ( निष्कृतं ) कथंभूतं मार्ग ? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पा-  
दितम् । ( पयो दुहाना ) अपारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकमफलादिभिः प्राणिनः  
प्रपूरयती, तथा ( व्रतनीः ) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती । ( सा प्र०



दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्चत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—( या गौर्व० ) जिस जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो सो लोक अपने अपने मार्ग में घूमता, और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है । अर्थात् परमेश्वर ने जिस जिस के घूमने के लिये जो जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं । ( पयो वुहाना० ) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, वृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है । तथा अपने अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं । ( सा प्रब्रुवाणा० ) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है । और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती, और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की बाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।

तस्मै त इन्द्रो हुविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

श्रु० अ० ६ । अ० ४ । व० १३ । मं० ३ ॥

भाष्यम्—( त्वं सोम० ) । अस्याभिप्रायः—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति ।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित्सूर्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः । अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि ।

तथा 'द्यावापृथिवी एजते' इति मन्त्रवर्णार्था द्यौः सूर्यः, पृथिवी च भ्रमत्-  
श्चलत इत्यर्थः । अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ [३] ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संचेपतः

भाषार्थ—( त्वं सोम० ) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है । कभी कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है । इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे ।

तथा ( द्यावापृथिवी ) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक, और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संचेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

# अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

—#—

यदा ते हर्षता हरीं वावृधाते दिवेदिधे ।

आदिचे विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । म० ३ ॥

भाष्यम्—( यदा ते० ) अस्याभिप्रायः—सूर्येण सह सर्वां लोकांनामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति ।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य ! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशन-हरणशील बलपराक्रमगुणाग्र्यौ किरणौ वा हर्षता प्रकाशमन्ताप्रत्यन्त वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां ( आदित् ) तदनन्तरं ( दिवेदिधे ) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ( ते ) तत्र गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो ( विश्वा ) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन ( येमिरे ) नियमेन धारयन्ति । अतः कारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां पिहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

मापार्थ—( यदा ते० ) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है ।

( यदा ते० ) हे इन्द्र परमेश्वर । आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब ससार का धारण, आकर्षण और पालन होता है । आपके ही सब गुण सूर्यादि लोकों को धारण करते हैं । इस कारण से सब लोक अपनी अपनी कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते ।

दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े बड़े गुण हैं । उनसे सब लोकों का दिन दिन और क्षण क्षण के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सब लोक अपनी अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीभिश्चस्तुर्म्यमिन्द्र नियेमिरे ।

आदिचे विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । म० ४ ॥

भाष्यम्—( यदा ते मारुती० ) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रप्रकार-परिग्राह्येति ।

हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तत्र मारुतीर्मरुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः

प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति । अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकसं असन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यदा ते मारुती० ) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । हे परमेश्वर ! आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षणादि नियमों से, तथा सूर्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है । जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।

आदिते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ५ ॥

भाष्यम्—( यदा सूर्य० ) । अभिप्रायः—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वराम् सूर्य भवान् रचितवानस्ति । यदिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । ( आदिते ) तदनन्तरं ( विश्वा ) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्यादयो लोका अपि ( येमिरे ) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यदा सूर्य० ) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है । हे परमेश्वर ! जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनका धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि; लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं । इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तम्नाद्रोदसी मित्रो अर्जुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।

वि चर्मणीव शिषोर्ण अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥

ऋ० अ० ४ । अ० ५ । व० १० । मं० ३ ॥

भाष्यम्—( व्यस्तम्नाद्रोदसी० ) अभिप्रायः—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वा-  
ल्लोकानाकर्षणप्रकाशाम्यां धारयत इति ।

हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्यादिलोको रोदसी  
द्यावापृथिव्यां भूमिप्रकाशौ व्यस्तगतास्तस्मिन्निवतवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव  
सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति । अद्भुत आश्चर्यस्वरूपः स सवितादिलोको  
ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोचिरोहितं निवारितं तमः करोति । वायुचयैव धिपणै धारण-  
कृत्यां द्यावापृथिव्यां धारणाकर्षणेन व्यवर्चयत् । विविधतयैतयोर्वर्चमानं कारयति ।  
कस्मिन्निर ? चर्मण्याकर्षितानि लोमानि च । यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि  
भवन्ति, तथैव सूर्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् । अतः  
किमागतं ? वृष्यं वीर्यमद्विखं सर्वं जगच्च सूर्यादिलोको धारयति । सूर्यादिधारण-  
मीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( व्यस्तगतादोदसी० ) अग्निप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार  
है । हे परमेश्वर ! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश  
होता है । इस हेतु मे सूर्य आदि लोक भी अपने अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी  
आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं । इस धारण से आप सब लोकों के  
परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है । सो  
सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अम्पकार को निवृत्त कर देते हैं । तथा प्रकाशरूप  
और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्तते  
हैं । इस हेतु से इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है । वह आकर्षण किस प्रकार  
से है, कि जैसे त्वचा में लोगों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के  
आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है, और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि  
लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आकृष्णेन रजसा वर्चमानो निवेश्यन्नुमृतं मर्त्यं च ।

हिरण्ययेन सविता रथेना द्वयो याति भुवःनानि पर्यन् ॥ ५ ॥

य० अ० ३१ । मं० ५१ ॥

भाष्यम्—( आकृष्णेन० ) । अग्निप्रायः—अवाप्याकर्षणविधास्तीति ।  
सविता परमात्मा सूर्यलोको वा रजसा सर्वलोकैः महाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्चमा-  
नोऽस्ति । कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन ? रमणान-  
न्दादिव्यवहारमायकज्ञानतेजोरूपेण रथेन । किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं  
सत्यविज्ञानं किरणममृतं वा स्वस्वकसायां निवेश्यन्व्यवस्थापयन्मन्त्र । तथा च मर्त्यं  
पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्ध्यो

वर्त्तमानोऽस्ति । स च सूर्यो देवो घोटनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति ।  
तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः ।

अस्मान्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसै-  
रक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात्सर्वान्लोकान्प्रातिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु  
लोकेष्व्वात्मिका स्वा स्वाप्राकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु  
परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा  
यास्काचाख्याः—

‘लोका रजांस्युच्यन्ते ॥’ निह० अ० ४ । खं० ११ ॥ ‘रथो रंहतेर्गतिकर्षणः  
स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा ॥’  
निह० अ० ६ । खं० ११ ॥ ‘विश्वानरस्यादित्यस्य ॥’ निह० अ० १२ । खं० २१ ॥

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु  
धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः

भाषार्थ—( आकृष्येन० ) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है ।  
सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण  
गुण से सहित वर्त्तते हैं । सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित  
‘रथेन’ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं । इसमें परमेश्वर सब  
जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सर्वत्र प्रकाश करता है । और सूर्यलोक  
भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता, और सब लोकों को  
व्यवस्था से अपने अपने स्थान में रखता है । वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को  
अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल  
को पृथिवी में प्रविष्ट करता है । सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का  
प्रकाश करके सबको जनता है । तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है ।

इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में ‘द्युभिरक्तुभिः’ इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन  
रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का, और सूर्य आदि लोकों के  
साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है । तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से  
अपना अपना आकर्षण है, और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है । यहाँ  
लोकों का नाम ‘रज’ है । और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे  
रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको ‘रथ’ कहते हैं । इस विषय में निरुक्त का  
प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेना । ऐसे धारण और आकर्षणविद्या  
के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ ५ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः

# अथ प्रकाशप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

—२—

सूर्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र निपये विचारः—

सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिता द्यौः ।

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

सोमेनादित्या वलिनः सोमेन पृथिवी मही ।

अथो नक्षत्राणामेवामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

अथर्व० का० १४ । [ प्रपा० २६ ] अनु० १ । म० १-२ ॥

ऋः स्विदेकाकी चरति क उ रिज्जाषते पुनः ।

क्रिस्विद्विमस्य भेषुजं क्रि वा वर्षनं महत् ॥ ३ ॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।

अग्निर्हिमस्य भेषुजं भूमिरावर्षनं महत् ॥ ४ ॥

य० अ० २३ । म० ६-१० ॥

भाष्यम्—( सत्येनो० ) । एवामभिप्रायः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्यः प्रकाशकोऽस्तीति ।

इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोचमितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । ( सूर्येण० ) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोचमितो धारितः । ( ऋतेन० ) कालेन सूर्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणो वलयन्तः मन्तो वा तिष्ठन्ति । ( दिवि सोमो अधिश्रितः ) एवं दिवि द्योतनात्मकं सूर्यप्रकाशं सोमश्चन्द्रमा आविश्रित आश्रितः सत्प्रकाशितो भवति । अर्थाच्चन्द्र-लोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥

( सोमेनादित्या० ) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य वलिनो वलं कर्तुं शीला भवन्ति, तेषां वलप्रापकशीलत्वात् । तत्रथा, यावन्तो [ ( यावति१ ) ] ऽन्तरिक्षदेशे सूर्यप्रकाशस्याग्ररं पुथिनी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्यकिरणपतनाभावाच्चदभावे चोष्णत्वाभावाच्च वलकारिणो वलयन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौष्या-

दिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणां सुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥

( कः स्व० ) । कोहोकाकी ब्रह्माण्डे चरति कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? कः पुनः प्रकाशितो जायते ? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? तथा बीजारोपणार्थं महच्छेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः ॥ २ ॥

एवां क्रमेणोचराणि—( सूर्य्य एकाकी० ) । अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति । तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति ॥ ४ ॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ।

इति प्रकाशप्रकाशकविषयः

भाषार्थ—( सत्येनो० ) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रकाश करने वाले, और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं ।

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है । उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों धारण और प्रकाश किया है । तथा ऋत अर्थात् काल महि ने<sup>१</sup> सूर्य्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है<sup>२</sup> । ( दिवि सोमो० ) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है । उसमें जितना प्रकाश है सो सूर्य्य आदि लोक का ही है । और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है । परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥

( सोमेनादित्या० ) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके, उससे उलट कर भूमि को प्राप्त होके बलवाली होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं । क्योंकि आकाश के जिस जिस देश में सूर्य्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस उस देश में शीत भी अधिक होता है । जिस जिस देश में सूर्य्य की किरण तिरछी पड़ती है,

१. महीने—सं० २ ॥ सं० ॥

२. तथा ऋत अर्थात् काल ने महि ने सूर्य्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य और सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का धारण किया है । हस्तलेख ॥ सं० ॥

वस उस देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सन मूर्त्तिमात्र पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है। और जब उनके बीच में मूर्त्य की तेजोमय किरण पड़ती है, तब उनमें से भाग उठती है। उनके योग से किरण भी बलगाली होती हैं। वैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है, और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं, और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्रलोकों के ममीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥

( क रि० ) । इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से पहिला ( प्रश्न )- कौन एकाकी अर्थात् अनेला निचरता, और अपने प्रकाश से प्रकाशगाला है ? ( दूसरा )- कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? ( तीसरा )- शीत का ओषध क्या है ? और ( चौथा )- कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं- ( सूर्य एकाकी० ) । ( १ ) इस ससार में सूर्य ही एकाकी अर्थात् अनेला निचरता, और अपना ही शील पर घूमता है, तथा प्रकाशरूप होकर सब लोका का प्रकाश करने वाला है। ( २ ) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। ( ३ ) शीत का ओषध अग्नि है। ( ४ ) और चौथा यह है- पृथिवी साकार चीजा के रखने का स्थान तथा सब चीज होने का बड़ा क्षेत्र है।

बेदां में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उनमें से यहाँ एकवेदामात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे ॥ ४ ॥

इति सक्षेपत प्रशास्यप्रकाशकविषय



# अथ गणितविद्याविषयः

—\*—

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म् एकादश च म् एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म् एकविंशतिश्च म् एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च म् एकत्रिंशच्च म् एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे युजेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे युजेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥

य० अ० १८ । न० २४, २५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्गवीजरेखागणितं प्रकाशितमिति । ( एका० ) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैकेन युक्ता द्वौ भवतः ( २ ), यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका ( ३ ) ॥ १ ॥

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः ( ४ ), एवं तिसृभिस्त्रित्व संख्यायुक्ता षट् (६), एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति । अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् ।

सेयं गणितविद्या वेदाङ्गो ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्तते ।

ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं वीजगणितं प्रवर्तते । तदपि

विधानम् 'एका चेति । अ-क इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिव्यो बीजगणितं निःसरती-  
स्ववर्षेयम् ॥ २ ॥

अग्न आ याहि वींत्थे गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बहिषि ॥

साय० छं० प्र० १ । यं० १ । [ मं० १ ] ॥

ययैका क्रिया इत्यर्थकरी प्रसिद्धेति न्यायेन स्वरसङ्केताद्कैर्बीजगणितमपि  
माध्वपठ इति बोध्यम् । एवं गणितत्रिधाया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते ।

सापार्थ—( एका च मे० ) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और  
रेखा मेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अङ्क ( १ ) जो  
संख्या है, सो दो बार गणने से दो की पाचक होती है । जैसे  $१+१=२$  । ऐसे ही एक के  
आगे एक, तथा एक के आगे दो, या दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना ।  
इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार ( ४ ), तथा तीन ( ३ ) को तीन ( ३ ) के  
साथ जोड़ने से ( ६ ), अथवा तीन को तीन से गुणने से  $३ \times ३ = ९$  हुए ॥ १ ॥

इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ  
आठ इत्यादि जोड़ने या गुणने तथा सब मन्त्रों के आश्रय को कैलाने से सब गणितविद्या  
निकलती है । जैसे पांच के साथ पांच ( ४५ ), वैसे ही पांच पांच छः छः ( ४५ )  
( ६६ ) इत्यादि<sup>१</sup> जान लेना चाहिये । ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने  
से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है । क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और  
अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी  
चाहिये ।

और जो छि वेदों का अङ्क ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है, उसमें भी इसी प्रकार के  
मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है । और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती  
है, वह निश्चिन और संख्यात<sup>२</sup> पदार्थों में युक्त होती है ।

और अज्ञान पदार्थों की सरथा ज्ञानने के लिये जो बीजगणित होता है, सो भी  
'एका च मे०' इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है । जैसे ( अ-क ) ( अ-क ) ( क-अ )  
इत्यादि मन्त्रों से निकलता है । यह भी वेदों ही से अपि मुनियों ने निकाला है ।  
( अग्न आ० ) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है । और इसी प्रकार  
मे तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥

१—वैसे ही पा छ ( ६६ ) साठ साठ ( ७७ ) आठ आठ ( ८८ ) इत्यादि । इस  
प्रकार पाठ होना चाहिये ॥ सू० ॥

२—संख्यात-द्व० ले० व सं० १-२ ॥ सू० ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

अयस्सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्माय वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥

य० अ० २३ । म० ६२ ॥

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् ।

छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यदेवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥

छ० अ० ८ । अ० ७ । व० १८ । म० ३ ॥

भाष्यम्—( इयं वेदिः० ) । अभिप्रायः—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाशयत इति ।

इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, सेनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासारूपो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । ( अयं सो० ) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति । ( वृष्णो अश्व० ) वृष्टिर्क्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । ( रेतः ) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । ( ब्रह्मायं वा० ) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः ( परमं व्योम ) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥

( कासीत् प्रमा ) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् ? सर्वस्येति शेषः । एवम् ( प्रतिमा ) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते, सा कासीत् ? एवमेवास्य ( [किं] निदानम् ) कारणं किमस्ति ? (आज्यम्०) ज्ञातव्यं घृतघत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् ? सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च ? ( परिधिः क० ) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं क्व आसीत् ? गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्यते । ( छन्दः ) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु किमासीत् ? ( प्रउगं० ) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं किमासीत् ? इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि—( यद्देवा दे० ) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः ( अयजन्त ) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य ( प्रमा ) यथार्थतया ज्ञातास्ति, ( प्रतिमा ) परिमाणकर्त्ता एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः ।

अत्रापि 'परिधि' शब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेपं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश्च उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ॥ [४] ॥

इति संचेपतो गणितविद्याविषयः

भाषार्थ—( इयं वेदिः० ) । अभिप्राय—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है । क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है । जैसे तिकोन, चौकोन, मेनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है, सो आयों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था । क्योंकि ( परो अन्तः पृ० ) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है, उसको परिधि, और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं । इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये, और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥

( कासीत्प्र० ) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है ? ( प्रतिमा ) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है ? ( निदानम् ) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है ( आज्यं ) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? ( परिधिः० ) परिधि किसको कहते हैं ? ( छन्दः० ) स्तुतन्त्र वस्तु क्या है ? ( प्रउ० ) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है ( यद्देवा देव० ) जिसको सन विद्वान् लोग पूजते हैं, वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है ।

इन मन्त्रों में भी 'प्रमा' और 'परिधि' आदि शब्दों में रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है । सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आयों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्यान्वित देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ॥ [ ४ ] ॥

इति संचेपतो गणितविद्याविषयः

# अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः<sup>१</sup>



स्तुतिविषयस्तु 'यो भूतं च' इत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थना-  
विषय उच्यते—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि  
धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मनुं मयि धेहि सहोऽसि सहो  
मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १६ । मं० ६ ॥

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायौ मयि नः<sup>२</sup> सचन्ताम् ।

अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः० ॥ २ ॥ य० अ० २ । मं० १० ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वार्हा ॥ ३ ॥

य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—'तेजोऽसी'त्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादि-  
विषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् ।

( तेजोऽसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं तेजोऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयो-  
ऽसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । ( वीर्यमसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्य-  
मस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादिवीर्यं पराक्रमं  
स्थिरं निधेहि । ( बलम्० ) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहत  
उत्तमं बलं धेहि स्थापय । ( ओजो० ) हे परमेश्वर ! त्वमोजोऽसि, मय्यप्योजः  
सत्यं विद्याबलं धेहि । ( मन्युरसि० ) हे परमेश्वर ! त्वं मनुर्दृष्टान्प्रति क्रोधकृदसि,  
मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मनुं धेहि । ( सहोऽसि० ) हे सहनशीलेश्वर ! त्वं सहो-  
ऽसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देही-  
त्यर्थः ॥ १ ॥

( मयीदमिन्द्र० ) हे इन्द्र परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रा-  
दिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु तथाऽस्मांश्च पोषयतु । अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः

१—सूल में—०समर्पणोपासनाविद्याविषयः ॥ सं०

२—संहिता में उपलब्ध पाठः—मयवानः ॥ सं० ॥

सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च । ( अस्मान् रायो० ) तथा नोऽस्मभ्यं मधं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मधवा मवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । ( सचन्ताम् ) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उच्येण गणेषु सचन्तां समवेता भवन्तितीश्वराऽऽज्ञास्ति । ( अस्माकं स० ) तथा हे भगवन् ! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु । मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥

( यां मेधां ) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेवेत्युच्यते—(द्विगणाः०) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते । ( तथा० ) तथा मेधया (अथ) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । ( स्वाहा )—

अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

‘स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेवा भवति ॥, नि० अ० ८ । ख० २० ॥

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—( सु आहेति वा ) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तने, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं, न परपदार्थं प्रति चेति (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठु रीत्या मंस्कृत्य मंस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्यायार्थाः ॥३॥

भाषार्थ—अत्र गणितविद्याविषय के पञ्चान् ‘तेजोऽसी’त्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, वाचना समर्पण और उपासना विषय है सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो ‘यो मूर्तं च०’ इत्यादि मन्त्रों में कुछ कुछ लिख दिया है, और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं—

( तेजोऽसि० ) अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से ज्ञानरूप प्रकाश कीजिये । ( धीर्यमसि० ) हे जगदीश्वर ! आप अनन्त पराक्रम वाले हैं, मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये । ( वलमसि० ) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये । ( ओजो० ) हे

१—उपासना विषय ‘युञ्जते मन उत०’ इत्यादि मन्त्र से आरम्भ किया है ॥ सं० ॥

सर्वशक्तिमन् । आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये । ( मन्युरसि० ) हे दुष्टों पर क्रोध करनेहारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये ( सहोऽसि० ) हे सबके सहन करनेहारे ईश्वर ! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं, वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझको भी कीजिये । अर्थात् सब शुभ गुण मुझको देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥

( मर्यादमिन्द्र० ) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाववाले मन को मुझमें स्थिर कीजिये । अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये । ( अस्मान् रा० ) हे परमधन वाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि धन वाले हमको सदा के लिये कीजिये । ( सचन्ता० ) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो । ( अस्माकं स० ) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥

( यां मेघ० ) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि—हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिये, कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आपकी उपासना सब दिन करते रहें । ( स्वाहा० ) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं कि—

( सु आदेति वा ) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये । ( स्वा वागादेति वा ) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये, कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं । ( स्वं प्रादेति वा ) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं । अर्थात् जितना जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा सन्तोष करें । ( स्वाहुतं ह० ) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें । और 'स्वाहा' शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुंघा पराणुदे वीक्ष उत प्रतिष्कर्मे ।

युष्माकमस्तु तविंषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥

इये पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां  
पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मोर्मेभ्यस्ते नुम्यानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विंशं  
धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८ । य० १४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदसि देवं तर्तुं सुप्तस्य तर्तुर्वैति ।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

य० अ० ३४ । य० १ ॥

वार्जश्च मे प्रनुवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे ॥

[ यजु० १८ । १ ]

भाष्यम्—( स्थिरा वः० ) अग्निप्रायः—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति

निक्षेपम्—

हे मनुष्या वो युष्माकं ( आयुषा ) आयुषान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नी-  
भृशुष्ण्डीधनुर्गणास्यादीनि शस्त्राणि च ( स्थिरा ) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु ।  
( पराणुदे ) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु । तथा ( ग्रीष् )  
अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च ( उत ) एवं शत्रुसेनाया अपि ( प्रतिष्कमे ) प्रतिष्-  
म्भनाय पराह्मुत्तया पराजयकारणाय च सन्तु । तथा ( युष्माकमस्तु तमिपी० )  
युष्माकं तमिपि सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु । येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं  
स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्माद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत् । ( मा  
मर्त्यस्य मा० ) परान्त्यमाग्नीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि, किन्तु मायिनोऽ-  
न्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कटाचिन् मास्तु । अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो  
मनुष्येभ्योऽहमाग्नीर्वादं रुदाचिददामीत्यग्निप्रायः ॥ ४ ॥

( इये पिन्वस्व० ) हे मयन ! इये उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायाद्याय चास्मान्  
त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सर्वत्र पुष्टमतः प्रसन्नान् बुरु ( ऊर्जे ) वैदग्ध्यानिज्ञान-  
ग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणां ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्ता-  
नस्मान् बुरु । ( क्षत्रा० ) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर [ व ] तः क्षत्रिय-  
स्वभानुत्तान् चक्रवर्तिराज्यमहितानस्मान् बुरु । ( द्यावापृ० ) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां  
सूर्याग्निभूम्पादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वाङ्गते प्रकाशोपकारी भवतः, तथैव कलाकौशल-  
यानचालनादिभिर्वा गृहीता सर्गमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वो-  
त्तमप्रयत्नवतः बुरु । ( धर्मासि० ) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि,



अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । ( अमेनि० ) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वममेनिनिर्वैरोऽसि, तथाऽस्मानपि सर्वमित्राभिर्वैरान् कुरु । तथा ( अस्मे ) अस्मदर्थं ( नृम्णानि ) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय, एवमेवास्माकं ( ब्रह्म० ) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, ( क्षत्रं० ) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय, ( विशं० ) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान् । तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥

( यज्जाग्रतो दू० ) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्चमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, ( दैवम् ) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं ( तदु० ) तत्, उ इति वितर्कं, सुप्तस्य पुरुषस्य ( तथैव ) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टुं ( एति ) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तां चैति, तथा ( दूरंगमम् ) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, ( ज्योतिषां ज्योति० ) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्, ( एकम् ) असहायं यन्मनोऽस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कृपया ( तन्मे० ) तन् मे मम मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणोद्घर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥

एवमेव 'वाजश्च म' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्यन्तमीश्वरावाचितव्यमिति सिद्धम् ।

भाषार्थ—( स्थिरा वः० ) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बल वाले हो । किन्तु तुम्हारे ( आयुधा ) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुन्धी=बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों । तथा ( परागुदे ) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य हों । ( वीळू ) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य हों । ( उत प्रतिष्क्रमे० ) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों । तथा ( युष्माकमस्तु त० ) हे मनुष्यो ! तुम्हारी ( त्विपी० ) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । ( मा मर्त्यस्य० ) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, और जो ( मायि० ) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उनके लिये नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥

( इमे पिन्वस्व० ) । हे भगवन् ! ( इमे० ) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो, और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । ( ऊर्जे० ) अर्थात् अपनी कृपा से हमको सदा उत्तम परात्मयुक्त और दृढ प्रयत्न वाले कीजिये । ( ब्रह्मणे० ) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिये । अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मण्य प्राप्त हों । ( क्षत्राय० ) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्तिराज्य और शरीर पुरुषों की सेना से युक्त हों, कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हमको कीजिये । ( गायत्र्य० ) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुरमहित कीजिये, कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों, ( धर्मांसि० ) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहार ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं, वैसे हमको भी न्यायकारी कीजिये । ( अमे० ) हे भगवन् ! जैसे आप नियंत्र होके सबसे वर्चते हो, वैसे ही सबसे वैरहित हमको भी कीजिये । ( अस्मे ) हे परमकारणिक ! हमारे लिये ( नृणांनि० ) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । ( ब्रह्म० ) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्या युक्त कीजिये । ( क्षत्र० ) हमको अत्यन्त चतुर, शूरी और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । ( विश्व० ) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारा प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभ गुण वाले होकर अत्यन्त पुन्यार्थी हों ॥ ५ ॥

( यज्ञप्रतो ) हे सर्वन्यायक जगदीश्वर ! जैसे आप्रत अवस्था में मेरा मन दूर दूर घूमने वाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा ( दैव० ) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशरूप रहता है, वैसे ही ( तदु सु० ) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे । ( ज्योतिषा० ) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला, और एक है, ( तन्मे० ) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपा से ( शिवस० ) कल्याण करने वाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो । जिससे अघर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥

इसी प्रकार से ( वाजश्च मे० ) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में 'गन्, ईश्वर' के अर्थ सर्वत्र समर्पण करने के ही विधान में हैं । अर्थात् सबसे उत्तम मोक्षप्राप्त्य के लिये अन्न जल पर्वत सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ।

आयुर्वेदेन कल्पतां प्राणो यजेन कल्पतां चक्षुर्वेदेन कल्पतां श्रोत्रं यजेन कल्पतां वायुवेदेन कल्पतां मनो यजेन कल्पतामात्मा यजेन कल्पतां ब्रह्मा यजेन कल्पतां ज्योतिर्वेदेन कल्पतां स्व यजेन कल्पतां पृष्ठं यजेन कल्पतां यज्ञो यजेन कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च सामं च बृहच्च रथन्तुं च ।

स्वर्देवा अगन्मासृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेद् स्वाहा ॥ ७ ॥

य० अ० १८ । मं० २६ ॥

भाष्यम्—( आयुर्यज्ञेन० ) 'यज्ञो वै विष्णुः' च० १ । १ । २ । १३ ॥

वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः । हे मनुष्यास्तेन यज्ञेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव ( प्राणः ), ( चक्षुः ), [ ( श्रोत्रं ) ], ( वाक् ) वाणी, ( मनः ) मननं ज्ञानम्, ( आत्मा ) जीवः, ( ब्रह्मा ) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्ता, ( ज्योतिः ) सूर्यादिप्रकाशः, ( धर्मः ) न्यायः, ( स्वः ) सुखं, ( पृष्ठं ) भूम्याद्यधिकरणं, ( यज्ञो० ) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, ( स्तोमः ) स्तुतिसमूहः, ( यजुः ) यजुर्वेदाध्ययनम्, ( ऋक् ) ऋग्वेदाध्ययनम्, ( साम ) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, ( बृहच्च रथन्तरं च ) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः, शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु । येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात् । येन वयं (स्वर्देवा) सुखे प्रकाशिताः ( अमृता ) परमानन्दम्मोक्षं ( अगन्म ) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा ( प्रजापतेः प्र० ) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा ( अभूम ), अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते ( वेद् स्वाहा ) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम । मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तमहि ॥७॥

[ इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः ]

भाषार्थ—( आयुर्यज्ञेन० ) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है । उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें । ( प्राणो० ) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर दें । ( चक्षु० ) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, ( श्रोत्रं० ) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, ( वाक्० ) वाणी, ( मनो० ) मन और विज्ञान, ( आत्मा० ) जीव, ( ब्रह्मा० ) तथा चारों वेद की पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, ( ज्योतिः० ) जो प्रकाश, ( स्वर्ग० ) जो सब सुख, ( पृष्ठं० ) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, ( यज्ञो० ) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है । ( स्तोमश्च० ) जो स्तुति का समूह, ( यजुश्च० ) सब क्रियाओं की विद्या, ( ऋक् च० ) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, ( साम च० ) सब गान करने की विद्या,

प्रकार से अथर्ववेद<sup>१</sup> ( बृहत् ) बड़े बड़े सब पदार्थ, और ( रथन्तरं च ) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो जो फल अपने आधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर दें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं। ( स्वदेवा० ) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को ( अगन्म ) सब दिन के लिये प्राप्त हों। ( प्रजापतेः० ) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अमागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। ( येद् स्वाहा ) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यमान से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ हों। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधि। आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से रहें ॥ ७ ॥

[ इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः ]

# अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥

क० अ० ४ । अ० ४ । व० २४ । मं० १ ॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम् ।

अग्नेज्योतिर्निचार्य पृथिव्या अध्यामरत् ॥ २ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्तया ॥ ३ ॥

युक्त्वाय सविता देवान्स्वर्ग्यतो धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्वं नमोभिर्विश्लोक एतु पृथ्वेव सुरैः ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

य० अ० ११ । मं० १-३, ५ ॥

भाष्यम्—( युञ्जते० ) अस्याभिप्रायः०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वर-  
स्वैवोपासना कर्तव्येति विधीयते ।

( विप्राः ) ईश्वरोपासका मेधाविनः, ( होत्राः ) योगिनो मनुष्याः,  
( विप्रस्य० ) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये ( मनः ) ( युञ्जते ) युक्तं कुर्वन्ति, ( उत )  
अपि ( धियो ) बुद्धिबुद्धीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः ?  
सर्वमिदं जगत् यः, ( विदधे ) विदधे, तथा ( वयुनावि० ) सर्वेषां जीवानां  
शुभाशुमानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित्, ( एकः ) स  
एकोऽद्वितीयोऽस्ति, ( इत् ) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित्  
पदार्थो वर्तत इति । तस्य ( देवस्य ) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, ( सवितुः ) सर्वजग-  
दुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः, ( परिष्टुतिः ) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या ।  
कथंभूता स्तुतिः ? ( मही ) महतीत्यर्थः । एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुप-  
गच्छन्तीति ॥ १ ॥

( युञ्जानः ) योगं कुर्वाणः सन्, ( तत्त्वाय ) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय, प्रथमं  
मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं ( सविता ) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नु-

पपुहृक्ते । ( अग्नेर्ज्योतिः ) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं ( निचाप्य ) यथायत् निरिचत्य ( अ० याभरत् ) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत् । इदमेव वृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

सर्वे मनुष्या एगमिच्छेयुः—( स्वर्ग्याय ) मोक्षसुखाय ( शक्त्या ) योग-  
बलोन्नत्या ( देवस्य ) स्वप्रकाशस्थानन्दप्रदस्य ( सवितुः ) सर्वान्तर्यामिनः परमे-  
श्वरस्य ( सर्वे ) अनन्तधर्म्यं ( युक्तेन मनसा० ) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन  
यत् सद्रोपयुज्जीमहीति ॥ ३ ॥

एवं योगाभ्यासेन कृतेन ( स्वर्गतः ) शुद्धभावाभ्रेष्णा ( देवान् ) उपासकान्  
योगिनः, ( सविता ) अन्तर्यामीश्वरः कृपया ( युक्त्वाय ) तदात्मसु प्रकाशकरणेन  
सम्यग् युक्त्वा, ( धिया ) स्वकृपाधारयुत्या ( शुद्ध्योतिः ) अनन्तप्रकाशं ( दिवं )  
दिव्यं स्वस्वरूपम् ( प्रसुराति ) प्रकाशयति । तथा ( करिष्यतः ) सत्यमर्कं  
फरिष्यमाणानुपासकान् योगिनः ( सविता ) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन  
सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥

उपासनाप्रदोपायनाग्रहीतारं प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते—( ब्रह्म पूर्णम् )  
यदा तं पुरात्रनं सनातनं ब्रह्म ( नमोभिः ) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारै-  
रुपासते, तदा तद् ब्रह्म ताम्यामाशीर्ददाति—( रलोः ) सत्यकीर्तिः ( वां ) ( वि )  
( एत ) ज्येष्ठ ज्योत्स्नोत् । कस्य कैव ? ( सुरैः ) परमविदुषः ( पथ्येव ) धर्ममार्गं  
इन ( वै ) एवं य उपासकाः ( अमृतस्य ) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य  
( पूजाः ) तदाज्ञानुष्ठानस्तत्सेवराः सन्ति, त एव ( दिव्यानि ) प्रकाशस्वरूपाणि  
त्रिगोपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि ( धामानि ) सुखस्वरूपाणि जन्माति  
सुखयुक्तानि स्थानानि वा ( आतस्युः ) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति । ते  
( विस्वे० ) सर्वे ( वां ) उपासनोपदेष्टु पदेष्वयौ द्वौ ( नृप्यन्तु ) प्रख्यातौ जानन्तु ।  
इत्यनेन प्रसारणोपासनां कुर्यान्। वां मुवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं ( युजे ) कृपया समवेतो  
भजामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब ईश्वर को उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से कुछ  
संक्षेप से यहाँ भी लिखा जाता है—( युजते मन० ) इसका अभिप्राय यह है कि जीव  
को परमेश्वर की उपासना नित्य करने से उचित है । अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य  
अपने मन को उसी में स्थिर करें ।

और जो लोग ईश्वर के उपासक ( विप्राः ) अर्थात् बड़े बड़े बुद्धिमान् ( होत्राः ) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे ( विप्रस्य ) सबको जाननेवाला, ( बृहतः ) सबसे बड़ा, ( विपश्चितः ) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में ( मनः युञ्जते ) अपने मन को ठीक ठीक युक्त करते हैं, तथा ( उत धियः ) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी ( युञ्जते० ) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को ( विदधे ) धारण और विधान करता है, ( वयुनाविदेक इत् ) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। ( देवस्य ) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश, और ( सवितुः ) सबकी रचना करनेवाले परमेश्वर की ( परिष्कृतिः ) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है, कि ( मही ) सबसे बड़ी, अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥

( युञ्जानः ) योग को करनेवाले मनुष्य ( तत्त्वाय ) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, ( प्रथमं मनः ) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब ( सविता ) परमेश्वर उनकी ( धियम् ) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। ( अग्नेर्ज्यो० ) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके ( अध्याभरत् ) यथावत् धारण करते हैं। ( पृथिव्याः ) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि ( वयम् ) हम लोग ( स्वर्गाय ) मोक्षसुख के लिये, ( शक्त्या ) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, ( देवस्य ) परमेश्वर की स्तुति में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे ( युक्तेन मनसा ) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी ( देवान् ) उपासकों को ( स्वर्यतो धिया दिवम् ) अत्यन्त सुख को देके ( सविता ) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा ( युक्त्याय ) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में ( बृहज्ज्योतिः ) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और ( सविता ) जो सब जगत् का पिता है, वही ( प्रसुवा० ) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु ( करिष्यतः ) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा ॥ ४ ॥

उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है, कि जब तुम ( पूर्वम् ) सनातन ब्रह्म की ( नमोभिः ) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊंगा कि ( श्लोकः ) सत्यकीर्ति ( वां ) तुम दोनों को ( एतु ) प्राप्त हो। किसके समान ? ( पथ्येव सूरैः ) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश

करता हूँ कि ( अमृतस्य पुत्राः ) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! ( शृण्वन्तु विरते ) तुम सब लोग सुनो कि ( आ ये ध्यामानि० ) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को ( आत्मयु ) पूर्व प्राप्त होचुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सदेह मत करो । इसीलिये ( युजे ) मैं तुमको उपासनायोग में युक्त करना हूँ ॥ ५ ॥

सीरां युञ्जन्ति क्वयौ युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरां देवेषु मुम्नया ॥ ६ ॥

युनक्तु सीरां वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

गिरा च ध्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सुष्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥

य० अ० १२ । म० ६७, ६८ ॥

भाष्यम्—( क्वयः ) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, ( धीराः ) ध्यानवन्तो योगिनः ( पृथक् ) विभागेन ( सीराः ) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडी-युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति । तथा ( युगा ) युगानि योग-युक्तानि कर्माणि ( तितन्वते ) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति, ते ( देवेषु ) विद्वत्सु योगिषु ( मुम्नया ) सुखैर्नैव स्थित्वा परमानन्दं ( युञ्जन्ति ) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

हे योगिनो ! यूपं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं ( युनक्तु ) तदुक्ता भवत । एवं मोक्षसुखं सदा ( वितनुध्वं ) विस्तारयत । तथा ( युगा० ) उपामनायुक्तानि कर्माणि, ( सीराः ) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं ( कृते योनौ ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ फारण आत्मनि ( वपतेह बीजम् ) उपामनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं यपत । तथा ( गिरा च ) वेदवाण्या विद्यया ( युनक्तु ) युङ्क्त, युक्ता भवत । किं च ( ध्रुष्टिः ) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं ( नो नेदीयः ) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण ( असत् ) अस्तु । कथंभूतं फलं ? ( पक्वं ) शुद्धानन्द-सिद्धम्, ( एयात् ) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात् । ( इत्सुष्यः ) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सुष्यः मर्कटलेखहन्त्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थं । पुनः कथं-भूतास्ताः ? ( सभराः ) शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एतामिदृच्छिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् । अत्र प्रमाणम्—

श्रुटीति क्षिप्रनामाशु ऊष्टीति ॥ निर० अ० ६ । मं० १२ ॥

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च इन्ता च ॥ निर० अ० १३ । मं० ५ ॥



भाषार्थ—( कवयः ) जो विद्वान् योगी लोग, और ( धीराः ) ध्यान करनेवाले हैं, वे ( सीरा युञ्जन्ति पृथक् ) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । ( युगा ) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, ( वितन्वते ) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, ( देवेषु सुम्नया . वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से, नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को ( वितनुध्वं ) विस्तार करो । इस प्रकार करने से ( कृते योनौ ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप ( बीजं ) बीज को ( वपत् ) अच्छी प्रकार से बोओ । तथा ( गिरा च ) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में ( युनक्त ) युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो । तथा ( श्रुष्टिः ) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें । और ( नो नेदीयः ) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही ( अस्तु ) प्राप्त हो । कैसा वह फल है ? कि ( पक्वं ) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ, और मोक्षसुख को प्राप्त करनेवाला है । ( इस्तृण्यः ) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है ? कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली, और ( सभराः ) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है । उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ ७ ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शृगमानि सह योगं भजन्तु मे ।

योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥

अथर्व० कां० १६ । अनु० १ । व० ८ । मं० २ ॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वर्भिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥९॥

नमस्ते अस्तु पश्यतु पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥

अश्विनं यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥

[ अथर्व० १२ । ४ । ४७-४९ ] ॥

भाष्यम्—( अष्टाविंशानि ) हे परमेश्वर भगवत् कृपया अष्टाविंशानि ( शिवानि ) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थीदशेन्द्रियाणि, दश प्राणा मनोबुद्धिचिन्ता-हङ्कारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति । ( शृगमानि ) सुखकारकाणि भूत्वा ( अहोरात्राभ्यां ) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं ( मे ) मम ( भजन्तु ) सेवन्ताम् । तथा भवत्कृपयाऽहं ( योगं प्र पद्ये ) प्राप्य ( क्षेमं च ) ( प्रपद्ये ) क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते ॥ ८ ॥

इमे वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अर्थवेदस्य सन्तीति बोध्यम्—( इन्द्रा० ) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं ( शच्याः ) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरिमि तथा ( भूयान् ) सर्वशक्ति[म]त्त्वान् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरिमि तथा ( अरात्याः० ) शत्रुभृताया वाष्पान्तादप्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद् भूयान्निगारकोऽसि । ( विभूः ) व्यापकः ( प्रभूः ) समर्थयामि । ( इति ) अनेन प्रकारेणैवंभूतं ( त्वा ) त्वां वयं मदैन ( उपास्महे ) अर्थात् सर्वोपासनं कुर्महे इति । अत्र प्रमाणम्—

वाचो नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० १ । ख० ११ ॥ तथा—

कर्मणां नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० २ । ख० ३ ॥ तथा—

प्रजानामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० ३ । ख० ६ ॥ ६ ॥

ईश्वरोऽभिप्रेदति—हे मनुष्या धृक्पुपायनारीत्या सदैव ( मा ) मां ( पश्यत ) नम्यन् ज्ञान्या चरत । उपासक एव जानीयाद्वेद्य—हे परमेश्वरानन्तविधायुक ! ( नमस्ते अस्तु ) ते तुभ्यमम्माकं मतंतं नमोऽस्तु भवतु ॥ १० ॥

( अन्नाग्नेन ) कस्मै प्रयोजनाय ? अन्नादिगार्ज्यैश्चर्ष्येण, ( यशसा ) सर्वोत्तम-  
मत्कर्मनुष्ठानोद्भूतमत्यकीर्त्या, ( तेजसा ) निर्दीनतया प्रागल्भ्येण च, ( ब्राह्मण-  
वर्चसेन ) पूर्णविद्या मह र्चमानानस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव ( पश्य )  
संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सर्वदोषास्महे ॥ ११ ॥

भाषार्थ—( अष्टाविंशानि त्रिवानि० ) हे परमेश्वर्युक्त मङ्गलमय परमेश्वर । आपकी कृपा से मुझको उपामनायोग प्राप्त हो, तथा वससे मुझको सुख भी मिले । इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और उल्ल, ये अष्टादश सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को मद्रा सेवन करे । तथा हम भी ( योग० ) वस योग के द्वारा ( सेम ) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं । इसलिये हम लोग रात दिन आपको नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥

( भूयानरात्या० ) हे जगदीश्वर । आप ( शच्या ) सब प्रजा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं । तथा ( भूयान् ) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं । जिससे आप ( अरात्या ) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं । तथा आपको ( विभू ) सब में व्यापक और ( प्रभू ) सब सामर्थ्य-  
वाने जान के हम लोग आपकी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

( नमस्ते अस्तु० ) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—हे उपासक लोगो ! तुम मुझसे प्रेममान से अपने आत्मा में सदा देखते रहो । तथा मेरी

आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् ज्ञान के उसी रीति से आचरण करो । फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप कृपादृष्टि से ( पश्य मा ) हमको सदा देखिये । इसलिये हम लोग आपको सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि—

( अन्नाद्येन ) अन्न आदि ऐश्वर्य्य, ( यशसा ) सबसे उत्तम कीर्ति, ( तेजसा ) भय से रहित, ( ब्राह्मणवर्चसेन ) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये । इसलिये हम लोग सदा आपकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥

उरुः पृथुः सुभृश्व इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥

अथर्व० का० १३ । अनु० ४ । मं० ५०-५३ ॥

भाष्यम्—हे ब्रह्मन् ! ( अम्भः ) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम्, 'आप्त' धातो 'रसुन्' प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः, ( अमः ) ज्ञानस्वरूपम्, ( महः ) पूज्यं, सर्वेभ्यो महत्तरं, ( सहः ) सहनस्वभावं, ब्रह्म ( त्वा ) त्वां ज्ञात्वा ( इति ) अनेन प्रकारेण वयं सततं उपास्महे ॥ १२ ॥

( अम्भः ) आदरार्थो द्विरारम्भः, अस्मार्थ उक्तः । ( अरुणम् ) प्रकाश-स्वरूपम्, ( रजतम् ) रागविषयमानन्दस्वरूपम्, ( रजः ) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, ( सहः ) सहनशक्तिप्रदम् ( इति त्वोपास्महे वयम् ) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥ १३ ॥

( उरुः ) सर्वशक्तिमान्, ( पृथुः ) अतीव विस्तृतो व्यापकः, ( सुभृश्वः ) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति, सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः ( इति ) एवं ज्ञात्वा ( त्वा ) त्वां ( उपास्महे वयम् ) । 'बहुनामसु उरु' रिति प्रत्यक्षमस्ति ॥

विष्णु अ० ३ । त्वं १ ॥ १४ ॥

( प्रथः ) सर्वजगत्प्रसारकः, ( वरः ) श्रेष्ठः, ( व्यचः ) विविधतया सर्व जगज्जानातीति, ( लोकः ) लोकयते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा ( इति त्वो० ) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥ १५ ॥

भाषार्थ—( अम्भः ) हे भगवन् ! आप सबमें व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं । तथा ( अमः ) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं । ( महः ) सब के पूज्य, सबके बड़े, और ( सहः ) सबके सहन करनेवाले हैं । ( इति ) इस प्रकार का ( त्वा ) आपको ज्ञान के ( वयम् ) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥

( अम्भ ) दूसरी बार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है ( अरुणम् ) आप प्रकाशस्वरूप, सप्त दुष्टों के नाश करनेवाले, तथा ( रजतम् ) प्रीति के परम हेतु, आनन्दस्वरूप, ( रज ) सप्त लोकों के ऐश्वर्य से युक्त, ( सह ) ( इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है ) और सहनशक्तिवाले हैं । इसलिये हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥

( उरु ) आप सप्त बलवाले, ( पृथु ) अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा ( सुभृ ) सप्त पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्तमान, और ( भुव ) अन्काशस्वरूप से सप्तके निवासस्थान हैं । इस कारण हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥

( प्रयो वरो० ) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं ( व्यच ) अर्थात् सप्त प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करनेवाले तथा ( लोक ) सप्त विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमर्हं चरन्तं परितः तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥

अ० अ० १ । अ० १ । व० ११ । म० १॥

भाष्यम्—( युञ्जन्ति० ) ये योगिनो निद्रांसः ( परितस्त्युषः ) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा ( चरन्तं ) ज्ञातारं सर्वज्ञम्, ( अर्हं ) अहिंसकं कृष्णामयम् 'रूप हिंसायाम्', ( ब्रध्नं ) विधायोगाभ्यासप्रेमभरणेन सर्वानन्दमर्थकं, महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, ( रोचनाः ) त आनन्दं प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा ( दिवि ) द्यौतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे ( रोचन्ते ) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः ।

अथ द्वितीयः—परितस्त्युषः चरन्तरूपमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे पदार्थाश्च ( युञ्जन्ति ) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव ( दिवि ) प्रकाशे ( रोचनाः ) रुचिकराः सन्तः ( रोचन्ते ) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोऽर्थः ।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परितस्त्युषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तरूपं सर्वममर्थं ( ब्रध्नं ) सर्वानयनवृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या ( दिवि ) द्यौतनात्मके परमेश्वरे वर्तमानं ( रोचनाः ) रुचिमन्तः सन्तो ( युञ्जन्ति ) युक्तं कुर्वन्ति, अन्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे ( रोचन्ते ) सदैव प्रकाशन्ते ।

अत्र प्रमाणानि—

'मनुष्यनामसु तस्थुषः, पञ्चजनाः इति पठितम् ॥

निघ० अ० २ । ख० ३ ॥

महत् ब्रध्न, महत्प्रामसु पठितम् ॥ निषं० अ० ३ । खं० ३ ।

तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदिन्यो ब्रध्नोऽरुषोऽ-  
मुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समृष्ट्यै' ॥

अ० कां० १३ । अ० २ । [ ब्रा० ५ । कं० १ ] ॥

आदित्यो ह वै प्राणो, रयिरेव चन्द्रमा, रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं  
च, तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ १ ॥' प्रश्नोपनि० प्रश्न १ । मं० ५ ॥

परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा  
शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति । एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च ।  
कश्चिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव  
सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च ।

एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्व पशोरेव  
ग्रहणं कृतं तद् भ्रान्तिमूलमेवास्ति । सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामा-  
दित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति<sup>१</sup> । परन्तु न जाने भट्ट मोक्ष-  
मूलरेणायमर्थं आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं  
कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ॥ [ १६ ] ॥

भाषार्थ—( युञ्जन्ति० ) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिये जो  
विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को, उपासना  
रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं । वह ईश्वर कैसा है कि ( चरन्तं )  
अर्थात् सब का जाननेवाला, ( अरुषं ) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र, ( ब्रध्नं )  
सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है । इसी से ( रोचनाः ) अर्थात्  
उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूट के, ( दिवि ) आत्माओं  
को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर ( रोचन्ते ) प्रकाशित रहते हैं ।  
इति प्रथमोऽर्थः ।

अब दूसरा अर्थ करते हैं कि—( परितस्थुः ) जो सूर्यलोक, अपनी फिरखों से  
सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में ( ब्रध्नं ) सत्रसे बड़ा और  
( अरुषं ) रक्तगुणयुक्त है, और जिसके आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं,  
( रोचनाः ) जिसके प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसी को सब  
लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं । इति द्वितीयोऽर्थः ।

१—शतपथ में उपलब्धपाठ—० समष्ट्यै ॥ सं० ॥

२—कोई यहाँ —०सम्यक् कृतमस्ति, पाठ चाहते हैं ॥ सं० ॥

(युञ्जन्ति०) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण ये लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।

इन तीनों अर्थों में निषण्ड आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं सो देख लेना। इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है, सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मेक्समोलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है ॥

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्तव्येति लिख्यते—तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य, तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृतोपासनयेश्वरे पुनः पुनः स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ पा० १। सू० २ ॥

[ भाष्यम्— ] उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्त-विषयादधर्मव्यवहाराद्य मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति ॥ १ ॥

निरुद्धा सती सा क्वायतिष्ठत इत्यत्रोच्यते—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ पा० १। सू० ३ ॥

[ भाष्यम्— ] यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरोध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥

यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्तते, तदा सांसारि-जनवचस्वापि प्रवृत्तिर्मवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ पा० १। सू० ४ ॥

[ भाष्यम्— ] इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुप्य-विलक्षणाऽप्येव वृत्तिर्ममतीति। नैवेदयनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥

कति वृत्तयः सन्ति, कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥

तत्र<sup>१</sup> प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥

पा० १ । सू० ५-१२ ॥

उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १२ ॥ पा० १ । सू० २३ ॥

भाष्यम्—“प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्चित<sup>२</sup> ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यान-  
मात्रेण । तदभिध्यानादपियोगिनः, आसन्नतमः समाधिलामः फलञ्च भवतीति” ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध, और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को धारंवार करके, अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

( योगश्चित्त० ) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को ‘योग’ कहते हैं। और ‘वियोग’ उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फस के उससे दूर हो जाना ॥ १ ॥

१—उपलब्ध योगसूत्र में तत्र पाठ नहीं है ॥ सं० ॥

२—व्यासभाष्य में उपलब्ध पाठ—०दावर्जित ॥ सं० ॥

( प्रश्न ) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहा पर स्थिर होती है ?

इसका उत्तर यह है कि—( तदा द्र० ) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर होजाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर होजाती है। एक तो वृत्ति की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है ॥ २ ॥

और दूसरा यह है कि—( वृत्तिसा० ) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर बस्ताह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी को तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है, और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फसती जाती है ॥ ३ ॥

( वृत्तयः ) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित, और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं। ४ ॥

ये पांच वृत्ति ये हैं—पहिली ( प्रमाण ), दूसरी ( विपर्यय ), तीसरी ( विकल्प ), चौथी ( निद्रा ), और पांचवी ( स्मृति ) ॥ ५ ॥

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—( तत्र प्रत्यक्षा० ) इसकी व्याख्या वेदविषय के होमप्रकरण में लिखी है ॥ ६ ॥

( विपर्ययो० ) दूसरी 'विपर्यय' कि जिससे मिथ्याज्ञान हो, अर्थात् जैसे को तैसा न जानना। अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको 'विपर्यय' कहते हैं ॥ ७ ॥

तीसरी, 'विकल्पवृत्ति' ( शब्दज्ञाना० ) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के गिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है, सींगवाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं। सो गूठी बात है, अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम 'विकल्प' है ॥ ८ ॥

चौथी 'निद्रा' [ ( अमान० ) ] अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फसी हो, उस वृत्ति का नाम 'निद्रा' है ॥ ९ ॥

पांचवी 'स्मृति' ( अनुमृत० ) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख



लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता, और उस विषय को अप्रमोष=भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं ॥ १० ॥

इन पांच वृत्तियों को धुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—( अभ्यास० ) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें। और वैराग्य अर्थात् सब धुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥

तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि—( ईश्वरप्र० ) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से, मन का समाधान होके, मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

“अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥

पा० १। सू० २४ ॥

भाष्यम्—अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आश्रयाः, ते च मनसि वर्चमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्चमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निनिमित्त इति ? तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्चमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविधातादूनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति,

अर्थस्य निरुद्धत्वात् । तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः, स च पुरुषविशेष इति ॥ १३ ॥

किं च—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ पा० १ । सू० २५ ॥

भाष्यम्—यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमन्यंबह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाण्यदिति । यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति । तस्य संज्ञादिनिशेषप्रतिपत्तिरागततः पर्यन्वेष्ट्या । तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्—ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तम्—आदिविद्वाग्निर्माणचिच्चमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरामुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं श्रोवाचेति ॥ १४ ॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ पा० १ । सू० २६ ॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरुषः कालेनानवच्छेद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ पा० १ । सू० २७ ॥

भाष्यम्—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रज्ञाशब्दवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । संकेतस्तीश्वरस्य स्थितमेगार्थमभिनयति । यथाप्रस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनारथोक्त्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति, सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्ति नित्यतया 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध' इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ १६ ॥

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ पा० १ । सू० २८ ॥

भाष्यम्—प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चैश्वरस्य भावना । तदस्य

योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—  
स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत्<sup>१</sup> ।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥”

भाषार्थ—अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—( क्लेशकर्म० ) अर्थात् इसी प्रकार में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश, और अच्छे बुरे कर्मों की जो जो वासना, इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ‘ईश्वर’ कहते हैं । फिर वह कैसा है ? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं ॥ १३ ॥

क्योंकि ( तत्र निरति० ) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है । जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सर्वेश्वर परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥

[ ( स एष० ) इसका भाषार्थ वेदनित्यत्वविषय में लिख दिया है ॥ १५ ॥ ]

अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—( तस्य वा० ) जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है । और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता । ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है ॥ १६ ॥

इसलिये ( तज्जप० ) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण, और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये, कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो । जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय ॥ १७ ॥

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि—

“किं चास्य भवति—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १८ ॥

पा० १ । सू० २६ ॥

भाष्यम्—ये तावदन्तरायाः, व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ १८ ॥

१—व्यासभाष्य में उपलब्ध पाठ—०स्वाध्यायमासीत् ॥ सं० ॥

२—उपलब्ध व्यासभाष्य में—प्रतिसंवेदी पुरुष ॥ सं० ॥

अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः' । के पुनस्ते कियन्तो वेति—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित-  
त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १६ ॥ पा० १ । सू० २० ॥

भाष्यम्—नरान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषा-  
मभावे न भवन्ति । पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । व्याधि<sup>१</sup>घातुरसकरणवैषम्यम् । स्त्यानम-  
कर्मण्यता चित्तस्य । संग्रह उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं, स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति ।  
प्रमादः ममाधिमाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः ।  
अविरतिश्चित्तस्य त्रिपयमंप्रयोगात्मा गर्हः । भ्रान्तिदर्शनं त्रिपर्ययज्ञानम् । अलब्ध-  
भूमिकत्वं ममाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा,  
ममाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः,  
योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १९ ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपमह भुवः ॥ २० ॥

पा० १ । सू० २१ ॥

भाष्यम्—दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च । येना-  
भिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते, तद्दुःखम् । दौर्मनस्यम्—इच्छाभिघाता-  
च्चेतमः<sup>२</sup> शोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद्वायुं  
वायुमाचाप्रति न रसासः । यत्कौष्ठं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः । एते<sup>३</sup>  
विक्षेपमहभुवो त्रिभिस्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ २० ॥

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः, ताभ्यामेवाभ्यासैरग्न्याभ्यां निरोद्धव्याः ।  
तत्राभ्यामस्य त्रिपयमुपमंहरन्निदमाह—

तन्प्रतिपेधार्थमेकतत्त्वाभ्यामः ॥ २१ ॥ पा० १ । सू० २२ ॥

भाष्यम्—विक्षेपप्रतिपेधार्थमेकतत्त्वाभ्यामनं चित्तमभ्यस्येत् । यस्य तु  
प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं, तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव  
त्रिभिस्तम् । यदि पुनरिदं मर्यतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भरत्येकाग्र-  
मित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् ।

१—उपलब्ध व्यासभाष्य म—विक्षेपाः । स० ॥

२—उपलब्ध व्यासभाष्य मे—तत्र व्याधि० ॥ स० ॥

३—व्यासभाष्य मे उपलब्ध पाठ—इच्छाभिघाताच्चेतमः ॥ स० ॥

४—संस्करण १ म नहीं है । हस्तलेख मे है ॥ स० ॥

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाह-  
चित्तस्य धर्मः, तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं, क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य  
धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्ययनियतत्वा-  
देकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति ।

यदि च चित्तेनैकैकानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथम-  
न्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय  
उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति ।

किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम्, यदहमद्राक्षं  
तत् स्पृशामि, यच्चास्पर्शं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः [ सर्वस्य प्रत्ययस्य  
भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माहमिति प्रत्ययः ]  
कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभव-  
प्रादुर्भावमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्ययस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभि-  
भूयते । प्रमाणान्तरञ्च प्रत्ययभवेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं  
च चित्तम् ॥ २१ ॥

यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ?—

भाषार्थ—इस मनुष्य को क्या होता है ? ( ततः प्र० ) अर्थात् उस अन्तर्यामी  
परमात्मा की प्राप्ति, और ( अन्तराय ) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का  
नाश होजाता है ॥ १८ ॥

वे विघ्न नव प्रकार के हैं—( व्याधि० ) एक ( व्याधि ) अर्थात् धातुओं की  
विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना । दूसरा ( स्त्यान ) अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति ।  
तीसरा ( संशय ) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न  
होना । चौथा ( प्रमाद ) अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार  
यथावत् न होना । पांचवां ( आलस्य ) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से  
पुरुषार्थ छोड़ बैठना । छठा ( अविरति ) अर्थात् विषय सेवा में कृष्ण का होना । सातवां  
( भ्रान्तिदर्शन ) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि  
करना, तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना । आठवां  
( अलब्धभूमिकत्व ) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना । और नववां ( अनवस्थितत्व )  
अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना । ये सब चित्त की  
समाधि होने में विघ्नेषु अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥ १९ ॥

अथ इनके फल लिखते हैं—( दुःखदौर्म० ) अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का झुग होना, शरीर के अवयवों का कंपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्तवाले को नहीं ॥ २० ॥

और इनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—( तत्प्रतिषेधा० ) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम, और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये, कि जिससे ये सब विघ्न दूर होजाय ॥ २१ ॥

आगे जिस भावना से उपासना करनेवाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविपद्याणां भावनातश्चित्त-  
प्रसादनम् ॥ २२ ॥ पा० १। सू० ३३ ॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणा, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषुपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २२ ॥

प्रच्छेदनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २३ ॥ पा० १। सू० ३४ ॥

भाष्यम्—कोष्ठस्य वायोर्नामिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वर्तमानं प्रच्छेदनं विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। च्छेदनं भक्षितान्न-  
वमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्तार्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २३ ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिसंश्लेषे ज्ञानदीप्तिराविवेकव्यतिष्ठति ॥ २४ ॥

पा० २। सू० २८ ॥

[ भाष्यम्—] एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २४ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २५ ॥

पा० २। सू० २९ ॥

तत्रार्हिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २६ ॥

पा० २। सू० ३० ॥

भाष्यम्—तत्राहिसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्—स खन्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि वहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपमहिंसां करोति ।

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वधोष सङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत्, इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्ग्रहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः ॥ २६ ॥”

एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ—( मैत्री० ) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी दुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । 'पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा, अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और वैर ही करना । इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

( प्रच्छेदार्दन० ) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे । पुनः धीरे धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे । इसी प्रकार बारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है । और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर होजाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥

( योगाङ्गानु० ) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय, और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

( यमनियमा० ) अर्थात् एक ( यम ), दूसरा ( नियम ), तीसरा ( आसन ) चौथा ( प्राणायाम ), पाचवा ( प्रत्याहार ), छठा ( धारणा ), सातवा ( ध्यान ) और आठवा ( समाधि ) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं । और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल समय है ॥ २५ ॥

( तत्रार्हिसा० ) उन आठों में से पहिला यम है । सो पांच प्रकार का है—एक ( अहिंसा० )—अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ, घेर छोड़ कर प्रेम प्रीति से वर्त्तना । दूसरा ( सत्य )—अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोले, करे और माने । तीसरा ( अस्तेय )—अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं । चौथा ( ब्रह्मचर्य्य )—अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना, और पक्ष सवे वर्ष से लेकर अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना, और उपर्य इन्द्रिय का सदा नियम करना । पाचवा ( अपरिमह )—अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना । इन पाचों का ठीक ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है ॥ २६ ॥

दूसरा अङ्ग उपासना का 'नियम' है जो कि पांच प्रकार का है—

'ते तु'—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २७ ॥

पा० २ । सू० ३२ ॥

[ भाष्यम्— ] शौचं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो, धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया । तपः, सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम् । [ स्वाध्यायः, ] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणयजपो वा । ईश्वरप्रणिधानम्, परमगुरुवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणम् । इत्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २७ ॥

अथाहिंसाधर्मस्य फलम्—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ २८ ॥



अथ सत्याचरणस्य फलम्—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २६ ॥

अथ चौरीत्यागफलम्—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३० ॥

अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यत्नभ्यते तदुच्यते—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३१ ॥

अथापरिग्रहफलमुच्यते—

अपरिग्रहस्थेयै जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३२ ॥

अथ शौचानुष्ठानफलम्—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्ता परैरसंसर्गः ॥ ३३ ॥

किंच' सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ३४ ॥

संतोषादनुचमसुखलाभः ॥ ३५ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ३६ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवता संग्रयोगः ॥ ३७ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३८ ॥” योग० पा० २ । सू० ३५-४५ ॥

भाषार्थ—[ ( शौच० ) ] पहिला ( शौच )—अर्थात् पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की, और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है। और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा ( सन्तोष )—जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना। किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। तीसरा ( तपः )—जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा ( स्वाध्याय )—अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना, और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना। और पांचवां ( ईश्वरप्रणिधान )—अर्थात् सब सामर्थ्य, सत्र गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना। ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग हैं ॥ २७ ॥

अन पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं— ( अहिंसाप्र० ) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाना है, किन्तु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥ २८ ॥

( सत्यप्र० ) तथा सत्याचरण का ठीक ठीक फल यह है कि—जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे वे सन सफल हो जाते हैं ॥ २९ ॥

चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि—( अस्तेय० ) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सय उत्तम उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगने हैं। और 'चोरी' इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर लेना ॥ ३० ॥

( ब्रह्मचर्य० ) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करें, उपस्थ इन्द्रिय का सयम रखे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी श्रुतुगामी बना रहे, और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का धीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३१ ॥

( अपरिग्रहस्य० ) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ और मुझ को क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अग्रय चाहिये ॥ ३२ ॥

परन्तु यमों का नियम सहजारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है, और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शीघ्र का फल लिखा जाता है—

( शौचात्मना० ) पूर्वोक्त दो प्रकार के शीघ्र करने से भी जब अपना शरीर और उसके मय अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि उनके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके मदा अलग रहता है ॥ ३३ ॥

और उसका फल यह है कि—( किञ्च० ) अर्थात् शीघ्र से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ३४ ॥

तदनन्तर ( संतोषाद० ) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है। और उसी को 'मोक्षसुख' कहते हैं ॥ ३५ ॥

(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं ॥ ३६ ॥

तथा (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साक्षात् होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

तथा (समाधि०) पूर्वोक्त प्रस्थिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥ तथा —

“तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३९ ॥ पा० २ । सू० ४६ ॥

भाष्यम्—तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि” । पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥ ३९ ॥

“ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४० ॥ पा० २ । सू० ४८ ॥

भाष्यम्—शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४० ॥”

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४१ ॥

पा० २ । सू० ४९ ॥

भाष्यम्—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठस्य वायो-  
निस्तारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ।”

आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः  
शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४१ ॥

“स तु” बाह्याभ्यन्तरस्तम्भघृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिहृष्टो दीर्घस्मः  
॥ ४२ ॥ पा० २ । सू० ५० ॥

भाष्यम्—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः  
स आभ्यन्तरः । तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते  
न्यस्तमुपले<sup>१</sup> जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ।”

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठार्ध्यां नासिकाब्जिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते  
स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य

१—‘स तु’ व्यासभाष्ये सूत्रपातनिकेति ॥ सं० ॥

२—मूल में—वस्तन्यस्तमुपले ॥ सं० ॥

सराङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सन्तु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संकुच्य प्रथमो बाह्यारयः प्राणायामः कर्त्तव्यः । तथोपामर्कयो बाह्यादेशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः त्रियते, न आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्सेवनीयो यः त्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यमनीयः ॥ ४२ ॥

‘बाह्याभ्यन्तरविषयासेषो चतुर्थः ॥ ४३ ॥ पा० २ । सू ११ ॥

भाष्यम्—देशकालमन्तर्यामिनीष्वविषयः परिदृष्ट’आसितः तथाऽऽभ्यन्तर-विषयः परिदृष्ट’ आसितः, उभयथा दीर्घब्रह्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयो-र्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालमह्वयाभिः परिदृष्टो दीर्घब्रह्मः । चतुर्थस्तु श्वाभ्यन्तराभ्यामयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयावेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः, इत्ययं विशेष इति”

यः प्राणायाम उभयावेपौ स चतुर्थो गद्यते । तद्यथा यदौदरात् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमसंस्थे प्रवर्त्तते तं मलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः । पुनश्च यदा बाह्यादेशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः । एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः त्रियते, न चतुर्थः प्राणायामः । यन्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्याम-स्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यशक्तिर्भवति तथैव कार्यमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

भाष्यार्थः—[ तथा ] ( तत्र स्थिर० ) अर्थात् जिसमें सुरतपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको ‘आसन’ कहते हैं । अथवा बेसी रुचि हो बेसा आसन परे ॥ ३६ ॥

( ततो द्वाब्दा० ) जन आसन दृढ होता है, तत्र उपासना करने में कुछ परिस्रम करना नहीं पड़ता है, और न सर्वो गर्वो अधिक बाधा करती है ॥ ४० ॥

( तस्मिन्मति० ) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उस को ‘आस’ और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको ‘प्रश्वास’ कहते हैं । उन दोनों के जाने आने को विचार से रोकें । नाभिका को हाथ से कभी न पकडे, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को ‘प्राणायाम’ कहते हैं ॥ ४१ ॥

और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है—( स तु बाह्या० ) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति ॥ ४२ ॥

और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है । अर्थात् जो कि ( बाह्याभ्य० ) इस सूत्र का विषय । ये चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उस को बाहर ही रोक दे; इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं । जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं । तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे । और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे, और जब बाहर से भीतर जावे, तब उस को भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं । और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४३ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४४ ॥ पा० २ । सू० ५२ ॥

[ भाष्यम्— ] एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४४ ॥

‘किंच’ धारणासु च योग्यतां मनसः ॥ ४५ ॥ पा० २ । सू० ५३ ॥

[ भाष्यम्— ] प्राणायामाभ्यासादेव ‘प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राण-स्ये’ति वचनात् । ” प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥ ४५ ॥

“अथ कः प्रत्याहारः—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार<sup>१</sup> इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४६ ॥”

पा० २ । सू० ५४ ॥

[ भाष्यम्— ] यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरं नैव गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थात्निरोधो भवति । कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यपि, अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४६ ॥

१—ग्यासभाष्य में—‘किंच’ यह सूत्रपातिका है ॥ सं० ॥

२—ग्यासभाष्य में—चित्तस्वरूपानुकार पाठ है ॥ सं० ॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४७ ॥ पा० २ । सू० ५५ ॥

[ भाष्यम्— ] ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंग्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद्विजयो जायते । स उपासको यदा यदेस्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्तते, तदा तदैव चित्तस्थेन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोतीति ॥४७॥

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ४८ ॥ पा० ३ । सू० १ ॥

भाष्यम्—‘नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रै, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाधो वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ।’ बाह्यविषये अर्थादोङ्कारे विन्दौ वा<sup>१</sup> ॥ ४८ ॥

“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४९ ॥ पा० ३ । सू० २ ॥

भाष्यम्—तस्मिन्देसे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४९ ॥”

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ५० ॥

पा० ३ । सू० ३ ॥

[ भाष्यम्— ] ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति । समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ५० ॥

“त्रयमेकत्र संयमः ॥ ५१ ॥ पा० ३ । सू० ४ ॥

भाष्यम्—तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ।” संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम् ॥ ५१ ॥

भाष्यार्थ—[ ( ततः० ) ] इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आरम्भ अर्थात् टांपनेवाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता जाता है ॥ ४४ ॥

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—( किञ्च धारणा० ) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से, मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की

१—ध्यासमाध्य मे—बन्ध इति धारणा ॥ स० ॥

२—बाह्यविषये .....वा । यह पाठ हस्तलेख में है । प्रथम संस्करण में नहीं ॥ स० ॥

योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी ज्ञान लेना ॥ ४५ ॥

( त्वविषया० ) 'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने-वाला है ॥ ४६ ॥

( ततः पर० ) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ॥ ४७ ॥

( देशबन्ध० ) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पाँचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अप्रभाग आदि देशों में स्थिर करके, ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उस का विचार करना ॥ ४८ ॥

तथा ( तत्र प्र० ) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम 'ध्यान' है ॥ ४९ ॥

इन सात अङ्गों का फल समाधि है—( तदेवार्थ० ) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रवेशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है, कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है ॥ ५० ॥

( त्रयमेकत्र० ) जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान, और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५१ ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि—

नाधिरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

माशान्तमानसो नापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १ ॥

मठोपनि० वल्ली० २ । म० २४ ॥

तेषः श्रेष्ठे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये-शान्ता निद्रांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।

सूर्यदर्शनेन ते विरजाः प्रयान्ति यन्नामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥

[ मुण्डकोपनि० ] मुण्ड १ । ख० २ । म० ११ ॥

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेद्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-  
स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाच विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥

तं चेद्ब्रह्मपुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेद्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः  
किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाच विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥

स ब्रूयाद्यावान्या अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्वारा-  
पृथिवी अन्तोऽव समाहिते, उभावमिथ वायुश्च सूर्याचन्द्रमसाबुभौ विद्युनक्षत्राणि  
यन्वास्थेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ५ ॥

तं चेद् ब्रह्मपुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि  
सर्वं च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥

स ब्रूयान्नास्य जयैतज्जीर्यति, न बधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुर-  
मस्मिन्नामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकी  
विजिघत्सोऽपिपासः मत्पकामः सत्पसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति  
यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोप-  
जीवन्ति ॥ ७ ॥

छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ । [ ख० १ ] म० १-५ ॥

अस्य सर्वस्य सायायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ।

१—मु० उ० में उपपन्न पाठ—मैलचर्या ॥ ख० ॥

२—य—ह० से० में नहीं है, यं० १ में है ॥ ख० ॥



**भाषार्थ—**यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ( नाधिरतो० ) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥

( तपःश्रद्धे० ) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में हृदं तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य ( सूर्य्यद्वारेण० ) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, ( विरजाः ) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, ( अमृतः ) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके, सदा आनन्द में रहते हैं ॥ २ ॥

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया जाय, उस समय इस रीति से करें कि—( अथ यदिदं० ) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥

और कदाचित् कोई पूछे कि—( तं चेद् ब्रूयु० ) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है, जिसकी खोजना की जाय ? ॥ ४ ॥

तो उसका उत्तर यह है कि—( स ब्रूयाथा० ) हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है, और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश, तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥

( तं चेद् ब्रूयु० ) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है, कि जिसको तुम खोजने को कहते हो ? ॥ ६ ॥

तो इसका उत्तर यह है कि—( स ब्रूयात्० ) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो

परिपूर्ण परमेश्वर है, उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है, और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है, कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहृतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवधारहित, (निशोक) शोकरहित, (निजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (मत्प्रकाशः) जिसके सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिसके सब संकल्प भी सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है, और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस जिस काम की, जिस जिस देश की, जिस जिस क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

सैवं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एका सगुणा, द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा—‘स पर्य्यगाच्छुक्र०’ इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति’ सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च । तथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १ ॥

[श्वे० उ० । अ० ६ । म० ११]

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनाभिर्गुणोपासनम् । तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्चमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेष्वप्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः । तद्यथा—परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, भर्तृस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्चमानत्वात्परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विशेषम्, तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, अव्रणः छेदरहितः, निराकारः आकाररहितः, अकायः शरीरमन्वन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शमंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन् सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् ।

अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति, मा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति । तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ।

[ इति संक्षेपतः ब्रह्मोपासनाप्रियम् ]

भाषार्थ—सो उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण । इनमें से ‘स पर्य्यगा०’ इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचनेवाला,

वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है, और अकाय, अब्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथा 'एको देवः' एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण, और 'निर्गुणश्च' इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करनेवाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अब्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

# अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्न-  
तिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति । अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि । तद्यथा—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्च क्लेशाः ॥ १ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥

पा० २ । सू० १-६ ॥

तदभावात्संयोगाभानो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ ८ ॥

पा० २ । सू० २५ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ पा० ३ । सू० ५० ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १० ॥ पा० ३ । सू० ५५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥

पा० ४ । सू० २६ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां, प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्ति-  
शक्तिरिति ॥ १२ ॥ पा० ४ । सू० ३४ ॥

अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामुचरोचरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥

न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २, २१-२२ ॥

भाषार्थ—इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मोदि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों

को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से, नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट होजाते हैं। वे क्लेश ये हैं—

( अविद्या० ) एक 'अविद्या;' दूसरा 'अस्मिता;' तीसरा 'राग;' चौथा 'द्वेष;' और पांचवां 'अभिनिवेश' ॥ १ ॥

( अविद्याक्षेत्र० ) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःख-सागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्नभिन्न होके प्रसुप्ततनु=नष्ट होजाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त होजाते हैं ॥ २ ॥

अविद्या के लक्षण ये हैं—( अनित्या० ) अनित्य अर्थात् कार्य ( जो शरीर आवि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर ) में नित्यबुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है।

तथा 'अशुचि' मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना; तथा तलाव, बावरी, कुण्ड, कूँआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उन का चरखामृत पीना; एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना; स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना, और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है।

तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना; जितेन्द्रियता, मिष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि, अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की 'अविद्या' संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्म-बुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्म-बुद्धि करना यह चार प्रकार की 'विद्या' है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

( दृग्दर्शन० ) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को

मिले के समान देयना, अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति होजाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥

तीसरा (सुरातु०) राग, अर्थात् जो जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके स्फूर्ति की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोगवियोगान्त हैं, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग, तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति होजाती है ॥ ५ ॥

(दुःखतु०) चौथा 'द्वेष' कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधवृद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥

(स्वप्नतु०) पाचवा 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीप्त पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

(तदभावात्०) अर्थात् जब अग्नि आदि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव मय बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥

(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का वीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

तथा (सत्त्वपुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥ १० ॥

(तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा मुक्तता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के स्फूर्ति से चित्त परिपूर्ण होजाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है, तब तक उसकी मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥

कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि—(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उनके सब कार्यों पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और

शुद्धि यथावत् होके, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥

अब मुक्तिविषय में गौतमाचार्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं—

( दुःखजन्म० ) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट होजाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट होजाते हैं । उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है । उसके नाश होने से ( जन्म ) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता । उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव होजाता है । दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने की बाकी रह जाता है । इसी का नाम 'मोक्ष' है ॥ १ ॥

( बाधना० ) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥

( तत्त्वत्यन्त० ) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम 'मोक्ष' है ॥ ३ ॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि—

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

[ वे० सू० ] अ० ४ । पा० ४ । सू० १०-१२ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ २ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

कठो० वल्ली ६ । मं० १०, ११, १४, १५ ॥

०दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

य एते ब्रह्मलोके, तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात्तेपांश्च सर्वे च  
लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वांश्च लोकानाम्भोति सर्वांश्च कामान्,  
यस्तमात्मानमनुविद्य [वि] जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

यदन्तरापस्तद् ब्रह्म' तदमृतं स आत्मा, प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये,  
यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां, यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं  
यशसां यशः० ॥ ७ ॥

छान्दो० प्रवा० ८ । ख० ११ [ प्रवाक ५, ६ । ख० ] १४ [ प्रवाक १ ] ॥

अणुः पन्था वितरः पुराणो मांश्च स्पृष्टो [ अनु ] वित्तो मयैव ।  
तेन धीरा अपिपन्ति ब्रह्मविद उक्त्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥

तस्मिन्नुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।  
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो  
विदुः । ते निचिक्षुर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किं  
चन ॥ १० ॥

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥

विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥

स० वा० १४ । अ० ७ [ वा० २ । क० ११, १२, २१-२३ ] ॥

भाषार्थ—अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप  
और लक्षण लिखा है, सो आगे लिखते हैं—

( अभार्थ० ) व्यासजी के पिता जो वादरि<sup>२</sup> आचार्य्य थे, उनका सुक्तिविषय में  
ऐसा मत है कि—जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के  
साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है, और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव  
हो जाता है ॥ १ ॥

१—छा० उ० मे—'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' पाठ है ॥ ख० ॥

२—ह० के०—वादरि । स० १—वादरि ॥ ख० ॥



तथा ( भाव जैमिनि० ) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि—जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में 'स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति' इत्यादि वचनों का प्रमाण है, कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥

( द्वादशाह० ) इस मुक्तिविषय में वादरायण<sup>१</sup> जो व्यासजी थे, उनका ऐसा मत है कि—मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं। अर्थात् क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है, और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से लुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से लुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ॥ ३ ॥

अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है, सो भी आगे लिखते हैं कि—

( यदा पञ्चाव० ) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥

( तां योग० ) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि ( प्रभव ) अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला, तथा ( व्यप्यः ) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है। इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥

( यदा सर्वे० ) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।

( प्रश्न )—क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है ? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में ?

( उत्तर )—नहीं, नञ् जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है। और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

१—तुलना कीजिये—द्वा० उ० ७ । २६ । २ ॥ सं० ॥

२—ह० ले०—वादरायण । सं० १—वादरायण ॥ सं० ॥

तथा ( यदा सर्वे० ) जय जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके छूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

( प्रश्न )—जन मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है ?

( उत्तर )—( दैवेन० ) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता भया उसमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रिया प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं ॥ ५ ॥

( प्रश्न )—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है, अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ?

( उत्तर )—( य एते ब्रह्मलोके० ) जो मुक्त पुरुष होते हैं, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके, और सब के आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उनका जाना जाना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उनके लिये कहीं रुकावट नहीं रहती, और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जान के, उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह श्राव्य प्रज्ञापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥

पूर्व प्रमत्त का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। ( यदन्तरा० ) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। और वही अमृत अर्थात् मोक्षरूप है। और जैसे वह सबका अन्तर्यामी है, वैसे उसका अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है। ऐसे प्रज्ञानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप समाधान को मैं प्राप्त होऊँ। और इस ससार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके बीच में ( यथा ) अर्थात् कीर्ति को प्राप्त होऊँ, तथा ( राज्ञा ) क्षत्रियों ( विद्वां ) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच यशस्वी होऊँ। हे परमेश्वर ! मैं कीर्तियों का भी कीर्तिरूप होके आपकी प्राप्त हुआ चाहता हूँ। आप भी कृपा करके मुझको सदा अपने समीप रहिये ॥ ७ ॥

अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं—( अणुः पन्था० ) मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। ( वितरः ) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुँच जाते हैं, जैसे दृढ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा ( पुराणः ) जो मुक्ति का मार्ग है, वह प्राचीन है, दूसरा कोई नहीं। मुझको ( स्पृष्टः ) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से निमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, ( धीरा ) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव, ( उत्क्रम्य ) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का छल्लेंचन करके, ( स्वर्गं लोकं ) सुखरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

( तस्मिच्छुक्ल० ) अर्थात् उसी मोक्षपद में शुक्ल=श्वेत, ( नीलं ) शुद्ध घन-श्याम, ( पिङ्गलं ) पीला श्वेत, ( हरितं ) हरा और ( लोहितं ) लाल ये सब गुण वाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं । यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है । उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला, तथा ( तैजसः० ) शुद्धस्वरूप और पुरख का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ६ ॥

( प्राणस्य प्राण० ) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उसको जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं, वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं । ( नेह ना० ) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥

( मृत्योः स मृत्यु० ) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह बारंबार मृत्यु अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त होता है । क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है, तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥

( विरजः पर आ० ) जो परमात्मा विच्छेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, ( अजः० ) अर्थात् जन्मरहित, और महाभ्रुव अर्थात् निश्चल है । ज्ञानी लोग उसी को जान के, अपनी बुद्धि को विशाल करें । और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्यूलमनण्वहस्त्रम-  
दीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो ऽ वाय्वनाकाशमसङ्ख्यस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कम-  
श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामाश्रोत्रमजरममरमभयमृतमरजोऽशब्दमवि-  
वृतमसंशृतमपूर्वमनपरमन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं च न तदश्नोति कश्चन  
॥ १३ ॥ श० का० १४ । अ० ६ । [ द्वा० ८ ] कं० ८ ॥

इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः  
प्राप्त्या जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम् ।

अथ वैदिकप्रमाणम्—

ये यज्जेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानुश ।

तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिं गृणीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥

स नो वन्धुर्जनिता स विधाता धामानि नेदु भुवनानि विश्वे ।  
यत्र देवा अमृतमानशानास्तदीये धामन्रघ्वैर्यन्त ॥ २ ॥ य० अ० ३२ । म० १० ॥

[ भाष्यम्— ] अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्वैर्यन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम् । एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकारयते ।  
[ इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः ]

भाषार्थ—( स होवाच ए० ) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गी ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु<sup>१</sup>, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सद्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस<sup>२</sup>, नेत्र, कर्ण, मन<sup>३</sup>, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आक्रान्त, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतरूप परमेश्वर है । उसको प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता जैसे मूर्त द्रव्य को चतुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है । क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है [ १३ ] ॥

तथा ( ये यज्ञेन० ) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षमुख में प्रसन्न रहते हैं । ( इन्द्रस्य० ) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाष्य को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख निश्चय किये गये हैं । ( अङ्गिरसः ) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे ( सुमेधसः ) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं । और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रस लेते हैं, और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं ॥ १ ॥

( स नो वन्धु० ) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि यही परमेश्वर हमारा वन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, ( जनिता० ) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है । तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है, कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं । और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी यही कहेंगे, सो जान लेना । जैसे 'वेदाहमेव' इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है ।  
इति मुक्तिविषय संक्षेपतः

१—वाहिये—सधु, गुरु, ॥ स० ॥

२—स्पर्श, रूप, रस,—द० ले० । स्पर्श, गन्ध, रस,—स० १ ॥ स० ॥

३—वाहिये—बाणी, मन, ॥ सं० ॥

# अथ नौविमानादिविद्याविषयरससंक्षेपतः



तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेधे रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः ।

तमूहयुनौभिरात्मन्वतीभि—रन्तरिक्षपुद्भिरपौदकाभिः ॥ १ ॥

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भि—र्नासंतथा भुज्युमूहयुः पतद्भिः ।

समुद्रस्य धन्वन्तार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः श्रुतपद्भिः षड्भ्यैः ॥ २ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ५ । व० ८ । सं० ३, ४ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति ।

( तुग्रो ह ) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु' अस्माद्धातोरौणादिके 'रक्'

प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स ( रयिं )

धनं कामयमानो, ( भुज्युं ) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च,

पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च ( अश्विना० ) पृथिवीमयैः काष्ठलोष्ठा-

दिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण ( उदमेधे ) समुद्रे गमयेद्गमयेच्च,

तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् ( न कश्चिन् ममृवान् ) योगक्षेमविरहः

सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः ? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं

( अवाहाः ) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं

कुर्व्यात् । कौ साधयित्वा ? ( अश्विना ) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या

पृथिवीमयेनायस्ताञ्जरजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युवां

तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं ( उहयुः ) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः ।

पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यनैः—( नौभिः )

समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः, ( आत्मन्वतीभिः ) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीयस्थिता-

भिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने

नित्यं कार्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि

साधनीयानि । एवमेव ( अन्तरिक्षपुद्भिः ) अन्तरिक्षं प्रति गन्तुभिर्विमानाख्ययानैः

साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः कथंभूताभिर्नौभिः—

( अपोदकाभिः ) अपगतं दूरीकृतं जललोपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात्

सच्चिकनास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्व्यात् । तथैव भूयानै-

भूमौ, जलपानैर्जले, अन्तरिक्षपानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जल-  
भूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्यादिति । अत्र प्रमाणम्—

अयातो द्युस्थाना देवतास्तासामधिना प्रथमागामिनौ भवतोऽधिनौ यद्  
व्यनुवाते सर्वे, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्चरभिनावित्यौर्णवाभः । तत्कारश्चिनौ  
द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके ॥'

नि० अ० १२ । अ० १ ॥

तथाधिनौ चापि भर्तारौ जर्मरीभर्तारावित्यर्थस्तुर्फीरौ तू हन्तारौ ॥  
उदत्पजेवेत्युदकजे इव, रत्ने सामुद्रे ॥ नि० अ० १३ । अ० ५ ॥

एतैः प्रमाणैरेतस्मिष्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं  
यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥

( तिस्रः क्षपस्त्रिरहा० ) कथंभूतैर्नावादिभिः—तिसृभौ रात्रिमिस्त्रिभिर्दिनैः,  
( आर्द्रस्य ) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा ( घन्वनः ) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे,  
( अतिव्रजद्भिः ) अत्यन्तवेगवद्भिः । पुनः कथंभूतैः—( पतङ्गैः ) प्रतिपातं वेगेन  
गन्तुभिः, तथा ( त्रिमी रथैः ) त्रिमी रमणीयसाधनैः, ( शतपद्भिः ) शतेनासंख्या-  
तेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, ( षडश्वैः ) षडश्व आशु-  
गमनहेतवो यन्त्राप्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु  
मुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह—  
( नासत्या ) पूर्वोक्ताभ्यामधिभ्याम् । अत एवोक्तं 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ' तानि  
यानानि ( उहयुः ) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषय-  
वाचरुत्वात् । अत्र प्रमाणम्—

'व्यत्ययो बहुलम् ॥' अष्टाध्याय्याम् अ० ३ । पा० १ [ सू० ८५ ] ॥

अत्राह—महामाध्यकारः—

सुसिद्धुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलञ्चरकर्तृगर्हा च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद्देवां सोऽपि च सिष्यति बाहुल्येन ॥

[ महाभाष्य अ० ३ । पा० १ । वा० ४ । सू० ८५ ] ॥

इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । तावेव नासत्यावधिनां सम्यग् यानानि बहव,  
इत्यत्र सामान्यकाले लिङ्गविधानात्, उहयुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये  
साधने स्तः । एवं कर्तव्यं भव्यमुचमसुरभोगं प्राप्नुयुर्नान्ययेति ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

( तुग्रो ह० ) 'तुजि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है। क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्तमान हैं। जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया जावे, उन सबों का नाम 'तुग्र' है। ( रयि ) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है, उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे। ( अश्विना ) जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर, और पदार्थों को भर के, व्यापार के लिये ( उद्मेघे ) समुद्र और नदी आदि में ( अवाहाः ) आवे जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह ( न कश्चिन्ममृषान् ) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किनको सिद्ध करने से होते हैं—अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का ( ऊहधुः ) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से 'ऊहधुः' इसके स्थान में 'ऊहधुः' ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती हैं, सो लिखते हैं—( नौभिः ) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं, ( आत्मन्वतीभिः ) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें। तथा ( अन्तरिक्षमुद्भिः ) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा ( अपो-दकाभिः ) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहिये, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना। उसका अर्थ यह है—

( अथातो द्युस्थाना दे० ) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनजयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त

हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह औष्वाम आचार्यों का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अग्नि है। पृथिवी के विकार वायु और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन रात्रि का नाम अग्नि है, क्योंकि इनसे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं, इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ' सूर्य और चन्द्रमा को अस्त्र कहते हैं। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणदि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा 'जर्मरी' और 'तुर्करीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अस्त्र के नाम हैं। जर्मरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करनेवाले, और तुर्करीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चायुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकोशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके घेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'वदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुप्त करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥

( तिन्न. क्षपिन् ) । ( नासत्या० ) जो पूर्वोक्त अस्त्र कह आये हैं, वे ( भुज्यु-मूहधु ) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन रात में ( समुद्र० ) सागर ( धन्वन्० ) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके ( व्रजङ्गि० ) सुप्तपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। ( त्रिभी रथैः ) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा ( पटव्यैः ) छः अस्त्र, अर्थात् उनमें अग्नि और जल के छः पर बनाने चाहिये। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें, तथा ( पवङ्गैः ) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रमणे संमुदे ।

पदस्थिना उदयुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नार्वमातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥

यमस्थिना ददयुः श्वेतमर्धमथाश्वायु शश्वदित्सुस्ति ।

तदां दात्रं मर्हि कीर्त्तन्यं भूत्पद्मे वाजी सदमिद्वच्यो अर्यः ॥ ४ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८, ९ । म० ५, १ ॥

भाष्यम्—हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः ( अना-



रम्भणे ) आलम्बरहिते, ( वनास्थाने ) स्थातुमशक्ये, ( अग्रभण्डे ) हस्तालम्बना-  
विद्यमाने, ( समुद्रे ) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा,  
कार्यसिद्धयर्थं गुप्ताभिर्गन्तव्यमिति । 'अश्विना उहयुश्च्यु'मिति पूर्ववद् विज्ञेयम् ।  
तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां ( अस्तं ) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्यं  
साधयतीति । कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् ? ( शतारित्राम् ) शतानि अरित्राणि  
लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमग्नये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति  
यस्यां तां शतारित्राम् । एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा  
तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः  
कथम्भूतं ( भुज्युं ) भोगं प्राप्नुवन्ति ? ( तस्थिवांसं ) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥३॥

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेव सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः । ( यम-  
श्विना ) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वम्  
( अघाश्वाय ) शीघ्रगमनाय, शिन्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, तमेवारवं  
गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । ( शश्वत्० ) तानि शश्वन्निरन्तरमेव  
( स्वस्ति ) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धिं ( अश्विना ददधुः ) दत्तस्ताभ्या-  
मेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति । ( वाम् ) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये  
यत्सामर्थ्यं वर्धते, तत् कीदृशं ? ( दात्रं ) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च,  
( महि ) महागुणयुक्तम्, ( कीर्त्तेन्यम् ) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थं  
तवैकेनकेन्यत्वन [ अ० ३।४।१४ ] इति 'केन्य' प्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठो-  
पकारकं ( भूत् ) अभूत् भवतीति । अत्र लङ्बर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स-  
चाग्न्याख्यो ( वाजी ) वेगवान्, ( पैद्वः० ) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति ।  
पैद्वपतङ्गशाश्वनाम्नी ॥ निर्व० अ० १ । ख० १४ ॥ ( सदमित् ) यः सदं वेगं इत् एति  
प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निस्स्माभिः ( हव्यः ) ग्राह्योऽस्ति । ( अर्यः ) तमश्वमर्यो  
वैश्यो वणिग्जनोऽधर्यं गृह्णीयात् । अर्यः स्वामिवैश्ययोः [ अ० ३।१।१०३ ],  
इति पाणिनि सूत्रात्, अर्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

त्रयः पुत्रयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्भिदुः ।

त्रयः स्कम्भासः स्कभितारस आरभे त्रिर्नक्तं यायस्त्रिर्नश्विना दिवा ॥ ५ ॥

भाष्यम्—( मधुवाहने० ) मधुरमतिमति रथे ( त्रयः पवयः ) यज्ञतुल्या-  
 श्वरुममूहाः कलापन्धयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्याः । तथैव शिल्पिभिः  
 ( त्रयः स्कम्भाः ) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्तयः कार्याः ( स्कमितासः ) किमर्थाः,  
 सर्वकलानां स्थापनार्थाः ( विश्वे ) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः ( सोमस्य ) सोमगुण-  
 विधिष्टस्य सुरस्य ( वेनां ) कमनीयां कामनासिद्धिं ( विदुः ) जानन्त्येव ।  
 अर्थात् ( अश्विना ) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः ? तावेवाश्विनौ  
 तद्यानसिद्धिं ( यायः ) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह ( त्रिनक्तं, त्रिदिवा )  
 तिसृमीरात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( अनारम्भणे० ) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अना-  
 रम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को  
 रच लो । ( तद्वीरयेयाम् ) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते  
 हैं । ( अनारम्भणे ) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में बिना आलम्बर से कोई भी  
 नहीं ठहर सकता, ( अग्रभणे ) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्बर कोई भी नहीं मिल  
 सकता, ( समुद्रे ) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष  
 का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, वनमें किसी  
 प्रकार का आलम्बर सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों  
 को पुरुषार्थ से रच लेवें । ( यदश्विनौ ऊहयुर्मु० ) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा  
 जाता है, यह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है । क्योंकि ( अस्त ) जो उनसे चलाया  
 जाता है, यह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्यों की सिद्धि करता है ।  
 ( गतास्त्रियाम् ) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अस्त्र अर्थात् जल की बाह लेने,  
 उनके धामने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंहर भी रखना  
 चाहिये, जिनमें जहाँ चाहे वहाँ उन यानों को धामे । इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कल-  
 यन्त्र और धामने के माधन रचने चाहिये । इस प्रकार के यानों से ( तत्त्रियसम् )  
 स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

( ममश्विना० ) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से ( श्वेत-  
 मरां ) भाषरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है । जिससे कारीगर लोग सवारियों  
 को ( अपाश्वय ) जोड़ भगन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं  
 हो सकती, उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है । ( शश्वदितवसित ) जिन  
 यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर रमति अर्थात् जित्य सुर बढ़ता  
 है । ( यदयुः ) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है, उसको  
 मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें । ( वाम् ) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त  
 पदार्थों ही में है । ( तन् ) जो सामर्थ्य कैसा है कि ( दानम् ) जो दान करने के योग्य,

(महि) अर्थात् बड़े बड़े शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करनेवाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैदः) अश्व, मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है। (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्च्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के बिना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है ॥ ४ ॥

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अङ्ग वस्त्र के समान हट्ट हों जिनमें कलायन्त्र भी हट्ट हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। (त्रयः स्कम्भासः) उनमें तीन तीन यन्त्र ऐसे बनाने चाहिये कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें। तथा (स्कभित्तासः) वे यन्त्र भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, (वारा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पविद्वान् लोग ऐसे यानों का सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिनक्तं यावत्त्रिर्बन्धिना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥ ५ ॥

त्रिनौ अश्विना यजुता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम् ।

तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ६ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ५ । मं० ७ ॥

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः । धिया युयुज्ज इन्दवः ॥ ७ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ८ ॥

वि ये भ्राजन्ते सुमखास क्रुक्षिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा ।

मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषवातासः पृषतीरयुग्मम् ॥ ८ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम्—यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं, तत् पुनः कीदृशं कर्तव्यमित्यत्राह—(परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृशं भवतीत्यत्राह—(आत्मेव वातः०) आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्वानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संचेपतः ॥ ६ ॥

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह—( अरित्रं ) स्तम्भनार्थं साधनयुक्तं, ( पृथु ) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः ( सिन्धूनाम् ) महासमुद्राणां ( तीर्थे ) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् । ( धिया यु० ) तत्र त्रिविधे रथे ( इन्द्रवः ) जलानि वाष्पवेगार्थं ( युयुज्जे ) यथावद्युक्तानि कार्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । इन्द्रवः इति जलनामसु ॥ निघण्टी [ अष्पाये प्रथमे ] खण्डे १२ पठितम् ॥ उन्देरिन्वादेः ॥ उणादौ प्रथमे पादे [ १२ ] छत्रम् ॥ ७ ॥

हे मनुष्याः ! ( मनोजुवः ) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् ( अयुग्ध्वम् ) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः ? ( आ वृषत्रातासः ) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे वाष्पजन्य-वेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि ( त्रिनों अश्विना य० ) ( पृथिवीमशायतम् ) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनवा है, ( परि त्रिधातु ) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं । और जैसे ( रथ्या परावतः ) नगर वा ग्राम की गलियों में मट-पट जाना आना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र शीघ्र जाना आना होता है । ( नामत्या० ) इसी प्रकार धिया के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे ( आत्मेव वातः स्य० ) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन मुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥

( अरित्रं धाम् ) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे ( तीर्थे सिन्धूनां रथः ) जो रथ बड़े बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, ( दिवस्पृथु ) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं । ( धिया युयुज्ज ) उन तीन प्रकार के यानों में ( इन्द्रवः ) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥

( वि ये भ्राजन्ते० ) । हे मनुष्य लोगो । ( मनोजुवः ) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो । ( यन्मरुतो रथेषु ) उन रथों में ( मरुत् ) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ । और ( आ वृषत्रातासः ) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो । ( पृथ्वीरयुग्ध्वम् ) जैसे जल के वाष्प धूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं, वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो । जो इस

प्रकार से प्रयत्न करके सबारी सिद्ध करते हैं, वे ( विभ्राजन्ते ) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं । और ( सुमस्त्रास ऋष्टिभिः ) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले सब भोगों से युक्त होते हैं, ( अच्युता चिदोजसा० ) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते, और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं । क्योंकि कला-कौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की ( ऋष्टि ) अर्थात् कलाओं से ( प्रच्या० ) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है । इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नौ नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे ।

युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ३४ । मं० ७ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ वष्ट्वन्तसर्दनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तन्चिकेत ।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥

ऋ० अष्ट० २ । अ० ३ । व० २३ । मं० ४७ । ४८ ॥

भाष्यम्—समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य ( पाराय ) ( गन्तवे ) गन्तुं यानानि रचनीयानि । ( नावा मतीनाम् ) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव ( नः ) अस्माकमपि नौरुचमा भवेत् । ( आयुञ्जाथाम० ) यथा मेधाविमिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्मा-भिरपि योजनीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्त-यानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः । मेधाविनामसु, निघण्टौ [ अध्याये तृतीये ] १५ खण्डे, मतप इति पठितम् ॥ ९ ॥

हे मनुष्याः ! ( सुपर्णाः ) शोभनपतनशीलाः ( हरयः ) अग्न्यादयोऽश्वाः ( अपो वसानाः ) जलपात्राञ्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेचदा ( कृष्णं ) पृथिवीविकारमयं ( नियानं ) निश्चितं यानं ( दिवमुत्प० ) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति, ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

( द्वादश प्रधयः ) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः । ( चक्रमेकम् ) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रमणार्थमेकं चक्रं रचनीयम् । ( त्रीणि नभ्यानि ) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रच-

नीयानि । तैः ( साकं त्रिशता ) त्रीणि शतानि ( शङ्खोऽर्पिताः ) यन्त्रकला  
 रचयित्वा स्थापनीयाः । ( चलाचलामः ) ताः कलाः चलाः चालनाहो अचलाः  
 स्थित्यहोः, ( पट्टिः ) पट्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन्पाने,  
 एतदादिविधानं सर्वं कर्तव्यम् । ( क उ तच्चिकेड ) इत्येतत्कृत्यं को विजानाति ?  
 ( न ) नहि सर्वे ॥ ११ ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोऽनिल्लिख्यन्ते ।

[ इति नीविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः ]

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! ( आ नो नावा मतीनाम् ) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के  
 बनाये नाव आदि यानों से ( पाराय० ) समुद्र के पारपार जाने के लिये सुगमता होती  
 है, वैसे ही ( आ, युञ्जामां ) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथायत् करो । ( रथम् )  
 जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको । ( नः ) हे मनुष्यो !  
 आभो, आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश देशान्तर में  
 हमारा जाना आना घने ॥ ६ ॥

( कृष्णं नि० ) अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् रँचनेवाला जो ( नियानं ) निश्चित  
 यान है, उसके ( हरयः ) वेगादि गुणरूप, ( सुपर्णाः ) अच्छी प्रकार गमन करनेवाले,  
 जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे ( अपो वसानाः ) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके  
 ( विचसुत्पतन्ति ) उस काष्ठ लोहा आदि से घने हुए विमान को आनाश में डड़ा चलाते  
 हैं । ( त आचवृ० ) ये जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं, तब  
 ( ष्टनस्य ) अर्थात् यथार्थ मुख के देनेवाले होते हैं । ( पृथिवी धृ० ) जब जलकलाओं के द्वारा  
 पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

( द्वादश प्रथयः ) इन यानों के बाहर भी यन्त्रे रचने चाहिये, जिनमें सब  
 कलायन्त्र लगाये जायें । ( चक्रमेकम् ) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने  
 से सब कला घूमें । ( त्रीणि नभ्यानि ) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये,  
 कि एक के चलाने से सब रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे  
 के चलाने में पीछे चलें । ( तस्मिन् साकं त्रिशता० ) उनमें तीन तीनमें ( शङ्खः० )  
 घड़ा वही कीलें अर्थात् पंच लगाने चाहिये कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जाय, और  
 उनके निरालने से सब अलग अलग होजाय । ( पट्टिर्न चलाचलामः ) उनमें ६० साठ  
 कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें । अर्थात् जब  
 विमान को ऊपर चढ़ाना हो, तब भाकधर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये,  
 और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये ।

ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये, और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिये। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। ( न ) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। ( क उ तच्चिकेत ) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं ॥ ११ ॥

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः

# अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदये पुरुषारमधिना स्पृधां श्रेतं तर्कतारं दुवस्यथः ।

शैवीभिद्युं श्रुतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्पणीसहम् ॥ १ ॥

॥ अष्ट० १ । अ० ८ । प० २१ । म० १० ॥

भाष्यम्—अस्यामिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाशयत इति ।

हे मनुष्याः ! ( अधिना० ) अधिनोर्गुणयुक्तं, ( पुरुषारं ) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्तव्यं बहुचमगुणयुक्तम्, ( श्वेतं ) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, ( अमिद्युं ) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, ( श्रुतनासु दुष्टरं ) राजसेनाकार्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यम्, ( चर्कृत्ये ) वारंवारं सर्पक्रियासु योजनीयम्, ( तर्कतारं ) ताराख्यं यन्त्रं यूपं कुरुत । कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तम् ? ( श्वयैः ) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय ? ( पेदये ) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं ? ( स्पृधां ) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीरानां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं ? ( चर्पणीसहम् ) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् । पुनः कथम्भूतं ? ( इन्द्रमिव० ) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । ( युवं ) युवामश्विनौ ( दुवस्यथः ) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावशिनौ सम्पक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

[ इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः ]

भाषार्थ—( युवं पेदये० ) अमिप्राय—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है । पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत अर्थात् विजली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है । क्योंकि 'धातापृथिव्योरित्येके' इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अधि नाम जान लेना चाहिये ।

( पेदये ) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है ( पुरुषारम् ) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के कर्मों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं । ( स्पृधाम् ) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है । ( श्वेतं ) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये । ( अमिद्युम् ) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये ( श्रुतनासु दुष्टरम् ) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसाह प्रकाश होता, और उल्लंघन करना अशक्य है । ( चर्कृत्यम् ) जो



सब क्रियाओं के बारंबार चलाने के लिये योग्य होता है। ( शय्यैः ) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिये। ( तरुतारम् ) जो इस प्रकार ताराख्य यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये ? ( पेदवे ) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये, तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये। ( चर्षणीसहं० ) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों के सहन करनेवाला है। ( इन्द्रमिव० ) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है, वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। ( युर्वं दुवस्ययः ) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये॥ १ ॥

इति तारविद्यामूलं संचेपतः

# अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्  
द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । य० २२ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति ।

हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया ( नः ) अस्मभ्यं ( ओषधयः ) सोमादयः,  
( सुमित्रिया ) अत्र 'इषाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्' [ ७ । १ । ३६ ] इति  
वार्षिकेन 'जमः' स्थाने 'डियाच' इत्यादेशः । सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः  
सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च । तथैव ( आपः ) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा ( योऽस्मा-  
न्द्वेष्टि ) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, ( यं च वयं द्विष्मः )  
यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, ( तस्मै दुर्मित्रियाः ) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु ।  
अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव  
कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति [ १ ] ॥

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गा-  
भावाच्चात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदा-  
हरिष्यामः ।

[ इति वैद्यकविद्याविषय संक्षेपतः ।

भाषार्थ—( सुमित्रिया न० ) । हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से ( आपः ) अर्थात्  
जो प्राण और जल आदि पदार्थ, तथा ( ओषधयः ) सोमलता आदि सब ओषधि, ( नः )  
हमारे लिये, ( सुमित्रिया सन्तु ) सुखकारक हों । तथा ( दुर्मित्रियाः ) जो दुष्ट, प्रमादी,  
हमारे द्वेषी लोग हैं, और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिये विरोधिनी हों ।  
क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ  
सुख देनेवाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिये सदा दुःख  
देनेवाले होते हैं [ १ ] ॥

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ।

[ इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः ]

# अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः



असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।

ज्योक् पर्येम् सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मूल्या नः स्वस्ति ॥ १ ॥

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।

पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यांश्च या स्वस्तिः ॥ २ ॥

अ० अ० ८ । अ० १ । व० २३ । सं० ९, ७ ॥

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायः—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाशयन्त इति ।

( असुनीते० ) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असु-  
नीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम (पुनरस्मा०)  
अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा ( चक्षुः ) चक्षुरित्यु-  
पलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि ( पुनः प्राणमि० )  
प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम् । पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं  
च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु ( नः ) अस्माकं ( भोगं ) भोगपदार्थान्  
( ज्योक् ) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु ( उच्चरन्तं सूर्यं )  
श्वासप्रवासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्यलोकं च निरन्तरं पर्येम् ( अनुमते ) हे  
अनुमन्तः परमेश्वर ! ( नः ) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु ( मृडय ) सुखय । भवत्कृपया  
पुनर्जन्मसु ( स्वस्ति ) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥

( पुनर्नो० ) । हे भगवन् ! भवदनुग्रहेण ( नः ) अस्मभ्यम् ( असुं ) प्राणम-  
क्षमयं बलं च ( पृथिवी पुनर्ददातु ) । तथा ( पुनर्द्यौः० ) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी  
द्योतमाना सूर्यज्योतिरसुं ददातु ( पुनरन्तरिक्षम् ) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं  
जीवनं ददातु ( पुनर्नः सोमस्त० ) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि  
तन्वं शरीरं ददातु ( पुनः पूषा० ) हे परमेश्वर ! पृष्टिकर्त्ता भवान् ( पथ्यां )  
पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु ( या स्वस्तिः ) सा भवत्कृपया  
नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( असुनीते ) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप ( पुनरत्मासु चक्षुः ) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये । तथा ( पुनः प्राण ) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये । ( इह नो धेहि भोग ) हे जगदीश्वर ! इस ससार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम उत्तम भोगों को प्राप्त हों । तथा ( ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुधरन्तम् ) हे भगवन् ! आपकी कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहे । ( अनुमते मृडया न स्वस्ति ) हे अनुमते=सबको मान देनेहारे ! सन जन्मों में हम लोगों को मृडय=सुखी रखिये, जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥

( पुनर्नो असु पृथिवी ददातु पु० ) हे सर्वशक्तिमान् ! आपके अनुग्रह से हमारे लिये बारबार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहे । ( पुनर्न सोमस्तन्य ददातु ) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे । तथा ( पुनः पूषा० ) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सन दुःख निवारण करनेवाली पशुपति रूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः  
पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरिताद्वधात्  
॥ ३ ॥ य० अ० ४ । म० १५ ॥

पुनर्मैत्रिन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।

पुनरुग्रयो धिष्यता यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ ४ ॥

अथर्व० का० ७ । अनु० १ । य० १७ । म० १ ॥

आ यो धर्मीणि प्रथमः ससाद् ततो वर्षेपि कृणुपे पुरुषि ।

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ५ । अनु० १ । य० १ । म० २ ॥

भाष्यम्—( पुनर्मनः पु० ) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठ-  
गुणयुक्तं मन आयु [ प्राण ] श्र ( मे ) मन्त्रमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् ( पुन-  
रात्मा० ) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् ( पुनश्चक्षुः० ) चक्षुः  
श्रोत्रं च मन्त्रं प्राप्नुयात् ( वैश्वानरः ) य सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता ( अदब्धः )  
दम्भादिदोषरहितः ( तनूपाः ) शरीरादिरक्षकः ( अग्निः ) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमे-

१—विचारगुह मन् इति शब्दोऽयं भविष्युर्हतीति वेदाङ्गिमतं, मन्मते तु ऽविचार-  
गुह मन्निष्ठं पुक्तं प्रतिपाद्यते ॥ य० ॥

श्वरः ( पातु दुरि० ) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥

( पुनर्मै० ) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात्सर्वाणीन्द्रियाणि, आत्मा प्राणधारको बलाख्यः, ( द्रविणं ) विद्यादिश्रेष्ठधनम् ( ब्राह्मणं च ) ब्रह्मनिष्ठात्वम्, ( पुनर्गन्तव्यः ) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणम्, ( मैतु ) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्लुवन्तु । ( धिष्ण्या यथास्थाम० ) हे जगदीश्वर ! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणावत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम, तथैवेहास्मिन्संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्यकरणे समर्था भवेम । येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम ॥ ४ ॥

( आ यो ध० ) यो जीवः ( प्रथमः ), पूर्वजन्मनि, धर्माणि यादृशानि धर्मकार्याणि, ( आससाद् ) कृतवानस्ति, स ( ततो वपूँषि० ) तस्माद् धर्मकरणाद्बहून्पुत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्धनेश्वरो ज्ञापयति ( धास्युर्योनि० ) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, ( प्रथमः ) पूर्व देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् ( आविवेश ) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः ( यो वाचम० ) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखमागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( पुनर्मनः पुनरात्मा० ) हे सर्वज्ञ ईश्वर । जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों । ( वैश्वानरोऽदब्धः० ) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । ( अग्निर्नः ) सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको ( पातु दुरितादवद्यात् ) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रखें ॥ ३ ॥

१—ह० ले०—कुशल जीवात्मा । सं० १—कुशलतायुक्त जीवात्मा । संस्कृत के अनुसार चाहिये—शुद्ध विचारयुक्त जीवात्मा अथवा शुद्ध विचार । मेरे विचार से यहां विकाररहित शुद्ध आत्मा यह प्रतिपाद्य है ॥ सं० ॥

( पुनर्मेतिन्द्रियम् ) हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों । अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । ( पुनरात्मा ) अर्थात् प्राणा को धारण करनेद्वारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे । जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें । ( द्रविण ) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहे । ( आह्वण च ) और सदा के लिये प्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे । ( पुनरग्नय ) तथा सन जगन् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें । ( धिष्यथा यथास्थाम ) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे, वैसे ही इस ससार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों । ये सब शुद्धबुद्धि के साथ ( मैतु ) मुझको यथावत् प्राप्त हों । ( इहैव ) जिनसे हम लोग इस ससार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें, और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें । जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

( आ यो धर्माणि० ) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, ( ततो वपूषि कृणुपे पुरुषि ) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है । ( धास्युर्योनिं० ) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्ण शरीर को छोड़ के घायु के साथ रहता है, पुन जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके धीर्घ्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुन जन्म लेता है । ( यो वाचमनुदिता ) जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसे ही ( आचिकेत ) यथावत् ज्ञान के बोलता है, और धर्म ही में ( ससाद् ) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है । और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

दे सुती अंशृणं पितृगामहं देवानामृत मर्त्यानाम् ।

ताम्पामिदं विश्वमेजत्समैति यदेन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥

य० य० ११ । य० ४७ ॥

मृतयाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।

नानापोनिसहस्राणि मयोपितानि यानि वै ॥ १ ॥

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।

मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥

अबाहुमुखः पीडयमानो जन्तुश्चैव समन्वितः [ ३ ] ॥ ७ ॥

निरु० अ० १३ । खं० १६ ॥ १

भाष्यम्—( द्वे सृती० ) अस्मिन्संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः । एकः पितृणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः ( मर्त्यानां ) विद्या-विज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति । यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भूङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति, सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते, सा द्वितीया सृतिर्भवति । तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते अत्रियते च । द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न अत्रियते चेति । अहमेवम्भूते द्वे सृती ( अमृणवं ) भ्रुतवानस्मि । ( ताम्यामिदं विश्वं ) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् ( एजत्समेति ) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति । ( यदन्तरा पितरं मातरं च ) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

अत्र 'भूतश्चाहं पुनर्जाति' इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसबाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढोऽभिनिवेशः<sup>१</sup> ॥ ८ ॥

पातं० पा० २ । सू० ६ ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ६ ॥ न्या० अ० १ । आ० १ । सू० १६ ॥

[ भाष्यम्— ] ( स्वरस० ) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहासुनिना तदुपरि भाष्य-कर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तथा पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते । कुतः ? जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति । तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतः । जीवे-

१—निरु० अ० १४ । खं० ६ ॥ सं० ॥

२—पातं० दर्शनं मे—तथाऽभिरूढोऽभिनिवेशः, पाठ है ॥ सं० ॥

नानेकानि शरीराणि धार्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति, स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत ? कुतः ? प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात्पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥

( पुनरु० ) तथा महाविदुषा मोक्षमार्गिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः । यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( द्वे सूती ) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को ( अशृण्वम्० ) सुनते हैं । एक मनुष्यशरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना । इसमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ अर्थात् बानी होना, दूसरा वेव अर्थात् सब विद्याओं को पढके विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना । इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों को होता है, और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये हैं ( ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति ) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं । ( यदन्तरा पितरं मातरं च ) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, बारंबार होता है ॥ [ ६ ] ॥

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है, वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है—

जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक ठीक जानता है कि—( सूत्राहं पु० ) मैंने अनेक बार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हज़ारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ ( आहारा वि० ) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ ( अनाह्मुखः ) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये । परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता [ ३ ] ॥ ७ ॥

तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है—( स्वरस० ) । ( सर्वस्य प्रा० ) हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि



( भूयासमिति ) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूँ । मरूँ नहीं । यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि ( मा न भूवं ) अर्थात् मैं न होऊँ । ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती । यह 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है, जो कि कृमिपर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है । यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ [ ८ ] ॥

तथा न्यायदर्शन के ( पुनरु० ) सूत्र, और उसी के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि—जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है । इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं ॥ ६ ॥

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति—यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीति ?

अत्र ब्रूमः—भोः ! ज्ञाननेत्रमुद्घाटय द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्च-वर्षपर्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा !

( प्रश्नः ) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति, तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात्सोऽन्यायकारी भवति, नातो-ऽस्माकं बुद्धिश्चेति ?

अत्र ब्रूमः—द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमालुमानिकं च । यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य-कारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविधारहितोऽपि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्यं नैव भवतीति दर्शनात् । तथैव न्यायकारीश्वरोऽपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति । संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति ।

अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोचराणि देयानि । किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिलल्लेखनं योग्यं भवति, ते ह्यनुद्देश्य-मात्रेणाधिकं जानन्ति । ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ।

[ इति पुनर्जन्मविषयः संचेपतः ]

मापार्थ—इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता ?

( उत्तर ) आप सोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो जो सुख दुःख तुमने पाल्यावरया में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं, उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। तब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का क्या ज्ञान रह सकता है ?

तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता, और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीयों का सुधार कभी नहीं हो सकता ?

( उत्तर ) ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक पैर और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से पैर तो इस का पूर्व निदान जान लेता है, और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से ये जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं। इसमें इतना निशेष है कि विद्वान् ठीक ठीक रोग के कारण और कार्य को निश्चय करके जानता है, और वह अविद्वान् कार्य को तो ठीक ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को बिना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के बिना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् चलते हैं।

इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेंगे। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

# अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।

भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गाहपत्याय देवाः ॥ १ ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नष्टभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७, २८ । मं० १, २ ॥

भाष्यम्—अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति ।

हे कुमारि युवते कन्ये ! ( सौभगत्वाय ) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये ( ते हस्तं ) तव हस्तं ( गृभ्णामि ) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! ( यथा ) येन प्रकारेण ( मया पत्या ) सह ( जरदष्टिः आसः ) जरावस्थां प्राप्तुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं, बृद्धावस्थां प्राप्तुयाम् । एवमाद्यां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्याविहि ( भगः ) सकलैश्वर्यसम्पन्नः, ( अर्यमा ) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता ( सविता ) सर्वजगदुत्पादकः ( पुरन्धिः ) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः ( मह्यं [ त्वादुः ] गार्हपत्याय ) गृहकार्यार्थं त्वां मदर्थं दत्त्वान् । तथा ( देवाः ) अत्र सर्वे विद्वांसः साभिणः सन्ति । यद्याद्यां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्याविहि तर्हि परमेश्वरदण्डयौ विद्वदण्डयौ च भवेवेति ॥ १ ॥

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमश्विर आह्वां ददाति । ( इहैव स्तं ) हे स्त्री पुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिन्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा ( वस्तम् ) निवासं कुर्याताम् ( मा वियौष्टं ) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तर-गमनेन वा विद्युक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् । एवं मदाशीर्वादिन धर्मं कुर्याणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ ( विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ) विविधसुखरूपमायुः प्राप्तु-तम् । पुनः ( स्वे गृहे० ) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नष्टभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्तुवन्तौ ( क्रीडन्तौ ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् ॥ २ ॥

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रिया-श्चेति । सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ।

[ इति संक्षेपतो विवाहविषयः ]

भाषार्थ—( गृष्णाभि ते सौभागस्वाय हस्त० ) हे स्त्री ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूँ। और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुमको अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूँगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं भी कभी न करूँगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होकर घृष्टावस्थापर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारा इस प्रतिज्ञा को मजबूत होय सत्य जानें कि इससे उल्टा काम कभी न किया जायगा। ( भग ) जो ऐश्वर्यवान् ( अर्यमा ) सप्त जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला ( मयिता ) सप्त जगत् का उत्पन्न करने और सप्त ऐश्वर्य का देने वाला तथा ( पुरन्धि ) सप्त जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा ( महात्मा० ) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिये और तुमको मेरे लिये दिया है, कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे, तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे, और सिध्वाभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में रहेंगे। सप्त जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे, और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। ( देवा ) हे विद्वान् लोगो ! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूँगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूँगा ॥ १ ॥

( इद्वैव स्त ) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। ( मा विवीष्ट ) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो, और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्र से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लक्ष्मणों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से ( विश्वमा० ) सी १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो। ( श्रीहन्ती० ) अपने घर में आनन्दित होकर पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक जीवा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्तमान रहो ॥ २ ॥

इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिये हैं, वहा देख लेना।

इति सत्तेपतो विवाहरियथ

# अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहं स्विदोषा कुह वस्तोरश्विना कुहामिपित्वं करतः कुहोषतुः ।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषां कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥

ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥

इयं नारीं पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्य्यं प्रेतम् ।

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । व० ३ । मं० १ ॥

उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि ।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं वभूथ ॥ ३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगन्यवस्था विधीयत इति ।

( कुहस्विदोषा० ) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां ( कुह ) कस्मिन्स्थाने ( दोषा ) रात्रौ ( वस्तोः ) वसथः ( कुह अश्विना ) दिवसे च क्व वासं कुरुथः<sup>१</sup> ( कुहामि० ) क्वामिपित्वं प्राप्तं ( करतः ) कुरुतः<sup>२</sup> । ( कुहोषतुः ) क्व युवयोर्निज-स्थानवासोऽस्ति<sup>३</sup> । ( को वां शयुत्रा ) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च । द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचि-द्वियोगन्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । ( विधवेव देवरं ) कं केव ? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम्—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निर० अ० ३ । खं० १५ ॥

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च । अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयो-

१—अत्र एवं योजना कार्या—“( दोषा ) रात्रौ वसथः ( कुह अश्विना ) ( वस्तोः ) दिवसे च क्व वासं कुरुथः” ॥ सं० ॥

२—कुरुथः, इत्यर्थः ॥ सं० ॥

३—०निजवासस्थानमस्तीत्यर्थः ॥ सं० ॥

रेकवारमेव विवाहः स्यात् । पुनरेवं नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शुद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह—

( मयं न योषा ) यथा विवाहितं मनुष्यं ( सधस्थे ) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री ( कृणुते ) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम् ॥ १ ॥

( इयं नारी ) इयं विधवा नारी ( प्रेतं ) मृतं पतिं विहाय ( पतिलोकं ) पतिमुत्तरं ( वृणाता ) स्वीकृतुं मिच्छन्ती सती ( मर्त्यं ) हे मनुष्य ! ( त्वा० ) त्वामुपनिषद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव ममीयं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय । कथम्भूता सा ? ( धर्मं पुराणं० ) वेदप्रतिपाद्यं सनानतनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु ( तस्यै ) विधवायै ( इह ) अस्मिन् समये लोके वा ( प्रजां धेहि ) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, ( द्रविणं ) द्रव्यं वीर्यं ( च ) अस्यां धेहि अर्थाद्गर्भाधानं कुरु ॥ २ ॥

( उदीर्ष्व ना० ) हे विधवे नारि ! ( एवं गतासुं ) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा ( अभिजीवलोकं ) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं ( एहि ) प्राप्नुहि ( उपशेषे ) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तन्व । तत्सन्तानं ( हस्तप्राप्तस्य ) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात् । यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि ( दिधिपोः ) तस्यैव सन्तानं भवेत् । ( तवेदं ) इदमेव विधवायास्तव ( जनित्वं ) सन्तानं भवति । हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं ( उदीर्ष्व ) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ । तथा ( अभिसंबभूय ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—‘नियोग’ उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष, ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाय, अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय, वा नपुंसक बन्ध्यादोष पड़ जाय, और इनकी सुवाच्यता हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अपरय चाहिये । इसका नियम आगे लिखते हैं—

( कुदृष्टि० ) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने ( दोषा ) रात्रि में कहां निवास किया था ? ( कुद वस्तेरधिना ) तथा दिन में कहां बसे थे ? ( कुदाभि-

पितृं करतः ) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? ( कुहोषतुः ) तुम्हारा निवासस्थान कहां है ? ( को वां शयुत्रा ) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये, अधिक नहीं। और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये।

( विधवेव देवरम् ) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको 'देवर' कहते हैं। इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो दो सन्तानों के लिये नियोग होना, और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्यन्त के लिये होना चाहिये। परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय। और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥

( इयं नारी पतिलोकं ) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे, तो ( प्रेतम् ) अर्थात् वह पति मरजाने के अन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। ( उपत्वा मर्त्यं ) इस मंत्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आत्मा देता है, कि हे पुरुष ! ( धर्मं पुराणमनुपालयन्ती ) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिये ( तस्यै प्रजां द्रविणं चेद धेहि ) धर्म से वीर्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥

( उदीर्ष्व नारी ) हे स्त्री ! अपने मृतक पति को छोड़ के ( अभि जीवलोकं ) इस जीवलोक में ( एतमुपशेष एहि ) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो, तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर ( हस्तग्राभस्य दिधिषोः ) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे। और उसका नाम 'दिधिपु' है। ( तवेदं ) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो, तो वह तेरा सन्तान हो।

( पत्युर्जनितरमः ) और जो निपुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह संतान पुत्र्य का हो । इस प्रकार नियोग से अपने अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीद्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविदु उचरः ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥

दृ० अष्ट० ८ । अ० ३ । व० २८, २७ । म० ४, ५ ॥

अद्वैतपतिर्नहि विवा पुशुभ्यः सुयमा सुयर्चाः ।

प्रजारांती वीरुद्वंद्वक्रामा स्योनेममग्ने गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥

अथर्व० १।० १४ । अनु० २ । म० १८ ॥

भाष्यम्—इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तये परिगणनं क्रियते—कतिवारं नियोगः कर्तव्यः कियन्ति सन्तानानि चोत्पादयानीति, तद्यथा—( इमां त्वमिन्द्र० ) हे इन्द्र विवाहितपते ! ( मीद्वः ) हे वीर्यदानकर्त्तृस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां ( सुपुत्रां ) श्रेष्ठपुत्रवतीं ( सुभगां ) अनुचमसुखयुक्तां ( कृणु ) कुरु । ( दशास्यां० ) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानां धेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशमन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विशेषम् । तथा ( पतिमेकादशं कृधि ) हे मित्र ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याश्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तयासकैकस्याभावे मन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्तं नियोगं कुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतार्या मृत्यां मन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति च्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥

अथोचरोचरं पतीनां मंत्वा विधीयते—( सोमः प्रथमः० ) हे स्त्रि ! यस्त्वा प्रथमः ( विविदे ) विवाहितः पतिः प्राप्नोति मसौकुमार्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । ( गन्धर्वो वि० ) यस्तु उचरः द्वितीयो निपुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे

१—६० १० ॥—गर्भयुक्तां कुरु । सद्यमेव कृत्वा ( सुपुत्रां ) इस प्रकार है ॥ स० ॥

२—६० १० म अभाव य पाठ है ॥ स० ॥

३—मृतपाठ—प्रथमं ॥ स० ॥



प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते । कुतः ! तस्य भोगाभिज्ञत्वात् । ( तृतीयो अ० )  
येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः ? द्वाभ्यां  
पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वाद्गनिदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दहन्त  
इत्यतः । ( तुरीयस्ते मनुष्यजाः ) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्यन्तास्तव पतयः  
साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सौम्या,  
गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥ ५

( अदेष्टुर्न्यपतिष्णि ) हे अदेष्टुर्न्य देवरसेविके ! हे अपतिष्णि विवाहित-  
पतिसेविके स्त्रि ! त्वं ( शिवा ) कल्याणगुणयुक्ता, ( पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः )  
गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता,  
तथा ( प्रजाव तीवीरस्रः ) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, ( देष्टुकामा )  
नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, ( स्योना ) सम्पन्न सुखयुक्ता सुखकारिणी  
सती ( इममग्निं गार्हपत्यं ) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धि-  
व्यवहारं च ( सपर्य्य ) प्रीत्या सम्पन्न सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले  
नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति ॥ ६ ॥

[ इति नियोगविषयः संचेपतः ]

भाषार्थ—( इमां० ) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है, कि हे इन्द्र ! पते !  
पेश्वर्ययुक्त । तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के, सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ।  
( दशास्यां पुत्रानाधेहि ) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित  
स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं । ( पतिमेकादशं कृधि ) तथा हे स्त्री !  
तू नियोग में ग्यारह पति तक कर । अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त  
नियोग के पति कर, अधिक नहीं ।

इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे  
पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे । तथा दूसरे के भी मरण वा  
रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले । इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा  
है । परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के  
लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है । और  
जब वह भी रोगी हो वा मरजाय, तो सन्तानोपत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग कर  
लेवे ॥ ४ ॥

अन पतियों की सज्ञा कहते हैं—( सोम प्रथमो विन्दे ) उनमें से जो विवाहित पति होता है, उसकी सोमसज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है। ( गन्धर्वो विन्दे उत्तर ) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। ( तृतीयो अग्निप्टे पति ) तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्निसज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है<sup>१</sup>। ( तुरीयस्ते मनुष्यज्ञा ) और चौथे से ले के दशमपर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसज्ञक कहाते हैं। क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥

( अदेष्टुघ्न्यपतिघ्नी ) हे विधवा स्त्री ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करे। ( एभि शिवा ) इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। ( पशुभ्य सुयमा सुवर्त्ता ) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा। ( प्रनारत्नी वीरम् ) तू श्रेष्ठप्रज्ञायुक्त हो, बड़े उड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। ( वेष्टुकामा ) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। ( स्थोतेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य ) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपसमें धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो, और उत्तम उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है ॥ ६ ॥

इति नियोगविषय सत्तेपत ॥

१—संस्कृत के अनुसार—वह अग्निसज्ञक, क्योंकि दो पुरुषों से भुक्तभोगा स्त्री ने साग नियुक्त होने के कारण अग्निदाह के समान उसके शरीरस्थ धातु दह्य होते हैं ॥ ४० ॥

# अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।

अर्षयमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वा अपि वायुकैशान् ॥ १ ॥

ऋ० अ० ३ । अ० २ । व० २४ । मं० १ ॥

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नामिरसि ।

मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० । मं० १ ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तं लोकं पुण्यं यज्ञेषु यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ४ ॥

य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्—एवामभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति ।

यथा सूर्यचन्द्रौ ( राजानौ ) सर्वभूतद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्यचन्द्र-  
गुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ ( त्रीणि सदांसि भूषथः ) भूषयतोऽलङ्-  
कृतः । ( विदथे ) ताभिः सभाभिरेव युद्धे ( पुरूणि ) बहूनि विजयादीनि सुखानि  
मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा ( परि विश्वानि ) राजधर्मादियुक्ताभिस्तमाभिर्विश्व-  
स्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति ।

इदमत्र बोध्यम्—एका राजार्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्यार्येव भवेयुः ।  
द्वितीयाऽऽर्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्ये भवतः । तृती-  
याऽऽर्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्तव्या । परन्तु वेता-  
स्तिस्रस्तथाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारये-  
युरिति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्तव्याकर्तव्यस्य  
प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो  
राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः । ( अपश्यमत्र ) इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽ-  
भिवदति—यत्र समया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत  
इति । ( व्रते ) यो मनुष्यः सत्याचरणे ( मनसा ) विज्ञानेन सत्यं न्यायं ( जग-  
न्वान् ) विज्ञातवान्, स राजसमामर्हति नेतरश्च । ( गन्धर्वान् ) पूर्वोक्तासु सभासु

१—ऋक् संहिता में उपलब्ध पाठ—जगन्वान् ॥ सं० ॥

२—यजुः संहिता में उपलब्ध पाठ—प्रज्ञं ॥ सं० ॥

गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यगहारेषु कुशलान् ( अपि गायुकेशान् ) वायुवद्भूत-  
प्रचारेण निदितमर्षव्यगहारेण ममामदः कुर्यात् । केनास्मृत्परमयस्तद्वत्सत्यन्पाप-  
प्रकाशकान्, सर्वहितं चिकीर्षुन्, धर्मात्मनः समासदस्त्वापयितुमहमाज्ञापयामि,  
नेतरान्चेतीधरोपदेशः सर्वमन्तव्य इति ॥ १ ॥

( क्षत्रस्य योनिरसि ) हे परमेश्वर ! त्वं यथा क्षत्रस्य राज्यगृहारास्य योनि-  
निमित्तममि, तथा ( क्षत्रस्य नाभिरसि ) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रगन्धकर्तामि । तथैव  
नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् सत्रधर्मप्रबन्धनं त्वं च कुरु । ( मा त्वा  
हिंसीन्मा मा हिंसीः ) तथाऽस्माकं मन्वात् कोपि जनस्त्वं मा हिंसीदर्थान्नवन्तं  
तिरस्कृत्य नास्ति को मा भवतु । तथा त्वं मां मा हिंसीदर्थान्नम तिरस्कां  
वदाचिन्मा कुर्याः । यतो वयं भवत्सुष्टौ राज्याधिकारिणमदा भवेम ॥ २ ॥

( यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च ) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्रह्मणो, ब्रह्म-  
विच्यैतत्तमं ब्रह्म तथा क्षत्रं और्ध्वधैर्यादिगुणान्तो मनुष्यारचैतौ द्वौ ( सम्यञ्चौ )  
यथावद्विज्ञानयुक्ताग्निरुद्धौ ( चरतः सह ), ( तं लोके ) तं देशं ( पुण्यं )  
पुण्ययुक्तं ( यज्ञेयं ) यज्ञकरणेच्छानिशिष्टं विजानीमः । ( यत्र देवाः महाग्निना )  
यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्चन्ते, तत्रैव प्रजाः  
सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—यत्र जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है, और सत्र सप्ताह उसकी प्रजा  
है । इसमें यह षड्वेद के अठारहवें अध्याय के २६ वे मन्त्र के वचन का मन्त्र है—यय  
'प्रजापतेः प्रजा अभूम्' अर्थात् सत्र मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि  
हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं, और वही एक हमारा राजा है ।

( श्रीणि राजाना ) तीन प्रकार की समा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य  
को भी नहीं । वे तीन ये हैं—प्रथम राज्यप्रगन्ध के लिये एक 'आर्ध्वराजसमा,' कि जिससे  
विशेष करके सत्र राज्यकार्य ही सिद्ध क्रिये जायें, दूसरी 'आर्ध्वविज्ञासमा,' कि जिससे  
सत्र प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी 'आर्ध्वधर्मसमा,' कि जिससे धर्म  
का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे । इन तीन मन्त्रों से ( विद्वे ) अर्थात् पुद्ग  
में ( पुरुषि परिविद्यमि भूष्य ) सत्र श्रुतों को तीन के नाना प्रकार के स्रोतों से विद्य  
को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥

( क्षत्रस्य योनिरसि ) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुर के  
परम कारण हैं । ( क्षत्रस्य नाभिरसि ) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं, तथा क्षत्रियमणं

के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है' । ( मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आपको छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये । किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्यें ॥ २ ॥

( यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च० ) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है । ( यत्र देवाः सहाग्निना० ) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।

अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायामि पिञ्चामि ।...

... इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि पिञ्चामि ॥ ४ ॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा कार्य त्वा ।

सुश्लोकं सुमङ्गलं सत्यं राजन् ॥ ५ ॥

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विपिः केशाश्च श्मश्रूणि ।

राजा मे प्राणो अमृतसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥

य० अ० २० । सं० ३-५ ॥

भाष्यम्—( देवस्य त्वा सवितुः ) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य ( प्रसवे ) अस्यां प्रजायां ( अश्विनोर्बाहुभ्यां ) सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां, बलवीर्याभ्यां, ( पूष्णो हस्ताभ्यां ) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, ( अश्विनोर्भैषज्येन ) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्तमानं त्वां ( तेजसे ) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, ( ब्रह्मवर्चसाय ) पूर्णविद्या-प्रचाराय, ( अभिपिञ्चामि ) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा ( इन्द्रस्येन्द्रियेण ) परमेश्वरस्य परमैश्वर्येण विज्ञानेन च ( बलाय ) उत्तमबलार्थ, ( श्रियै ) चक्रवर्त्ति-राज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां, ( यशसे ) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च ( अभि पिञ्चामि ) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीति श्वरोपदेशः ॥ ४ ॥

( कोऽसि ) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन

१—संस्कृत के अनुसार—तथा राजधर्म के प्रबन्धकर्ता हैं । हमें भी कृपया ऐसा ही कीजिये ॥ सं० ॥

सुखमुक्तान् करोतु । ( कतमोऽसि ) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोऽसि, अस्मानपि राजसभा-  
प्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय । ( कस्मै त्वा ) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः ।  
तथा ( काय त्वा ) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । ( सुश्लोक ) हे सत्यकीर्ति !  
( सुमङ्गल ) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! ( सत्यराजन् ) हे सत्यप्रकाशक सत्य-  
राज्यप्रदंश्वर ! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—( शिरो मे श्रीः ) राज्यश्रीमें मम शिरोवत् ।  
( यशो सुखं ) उत्तमकीर्तिमुखवत् । ( त्विषिः केशाश्च श्मश्रुणि ) सत्यन्यायदीप्तिः  
मम केशरमश्रुवत् । ( राजा मे प्राणः ) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्नायुश्च मम  
राजवत् । ( अमृतश्चसम्राट् ) मोक्षार्थं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत् ।  
( चतुर्विराट् श्रोत्रम् ) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चतुर्वत् । एवं  
सभासदोऽपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे  
विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( ईश्वर्य त्वा सवितु ) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो  
उसका हम लोग अभिषेक करें, और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष ! आप सन जगत् को  
प्रकाशित और उपलब्ध करनेवाले परमेश्वर की ( प्रसवे ) सृष्टि में प्रजापालन के लिये  
( अधिनोर्वाहुभ्याम् ) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और दीर्घ्य से, ( पूष्णो हस्ताभ्याम् ) पुष्टि  
करनेवाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष होने में  
स्वीकार करते हैं । ( अधिनोर्भेषज्येन ) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु  
इन ओषधिया से दिन रात में सन रोगा से तुझको निवारण करके, ( तेजसे )  
सत्यन्याय के प्रकाश, ( ब्रह्मवर्चसाय ) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा  
( इन्द्रस्येन्द्रियेण ) परमेश्वर के परमेश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से ( वल्लाय ) उत्तम  
सेना, ( त्रिभ्यं ) सर्वोत्तम लक्ष्मी और ( यज्ञसे० ) सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये, मैं  
तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ, कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के  
अर्थ है । इससे सन मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥

हे महाराजेश्वर ! आप ( कोऽसि कतमोऽसि ) सुखस्वरूप, अत्यन्त आनन्दकारक  
हैं, हम लोगों को भी सच आनन्द से युक्त कीजिये । ( सुश्लोक ) हे सर्वोत्तम कीर्ति के  
देने वाले ! तथा ( सुमङ्गल ) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर !  
( सत्यराजन् ) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले ! हम लोगों के राजा तथा सच  
सुखा के देने वाले आप ही हैं । ( कस्मै त्वा काय त्वा ) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार  
और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण  
राज्य और सुख निश्चये होगा ॥ ५ ॥

समाध्यक्ष, सभासद और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि—( शिरो मे श्रीः ) श्री मेरा शिरस्थानी, ( यशो मुखं ) उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, ( त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और ढाढ़ी मूछ के समान, तथा ( राजा मे प्राणः ) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, ( अमृतश्चसाम्राट् ) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है, वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा ( चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ) जो अनेक सत्यविद्यार्थों के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।

आत्मा क्षत्रपुरो मम ॥ ७ ॥

पृष्ठीमे राष्ट्रमुदरमश्वौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।

ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥<sup>१</sup>

य० अ० २० । मं० ७-८ ॥

भाष्यम्—( बाहू मे बलं ) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति ( इन्द्रियं हस्तौ मे ) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् ( कर्म वीर्यं ) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् ( आत्मा क्षत्रपुरो मम ) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

( पृष्ठीमे राष्ट्रम् ) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् ( उदरमश्वौ ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् ( ग्रीवाश्च श्रोणी ) यत्प्रजायाः सुखेन भूषित-पुरुषार्थीकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् । ( ऊरू अरत्नी ) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति । ( जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु ग्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( बाहू मे बलं ) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, ( इन्द्रियं हस्तौ० ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है, वे मेरे हाथों के समान, ( आत्मा क्षत्रपुरो मम ) जो राजधर्म, शौर्य, वीर्य, और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥

१—इसके भाषे हस्तसेख में यजुः० अ० २० मन्त्र ६ की व्याख्या तथा व्याख्या के पञ्चात् ॥ ६ ॥ का लंक भी विद्यमान है । किन्तु प्रथम संस्करण में नहीं है ॥ सं० ॥

( पृथ्वां राष्ट्रं ) जो उत्तम राज्य है, सो मेरी पीठ के समतुल्य, ( उदरमश्वौ ) जो राज्य-सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा ( प्रीवाश्च श्रोणी ) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अथवा नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, ( ऊरु अरत्नी ) जो प्रजा को व्यापार और गणि-निष्ठा में निपुण करना है, सो ही अरत्नी और ऊरु अङ्ग के समान, तथा ( जानुनी ) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह मेरी जानु के समान है । ( विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोपु । प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥

त्रातारमिन्द्रं भवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवश्च शरमिन्द्रम् ।

ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो भववा धात्विन्द्रः ॥ ११ ॥

य० अ० २० । मं० १०, ५० ॥

भाष्यम्—( प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे ) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि त्रिआधर्मप्रचारिते देशे च । ( प्रत्यश्वेषु० ) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । ( प्रत्यङ्गेषु० ) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मान-मात्मानं प्रति तिष्ठामि । ( प्रति प्राणेषु० ) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रति तिष्ठामि । ( प्रति द्यावापृथिव्योः० ) दिवं दिवं प्रति, पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । ( यज्ञे ) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुमरन्ति तेषां मदैव विजयाम्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो, यतोऽन्यायानिद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥

( त्रातारमिन्द्रं० ) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्यवन्तं, ( सुहवश्च शरमिन्द्रं ) सुहवं शोभनपुद्गकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, ( शक्रं ) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, ( पुरुहूतं ) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, ( इन्द्रं ) न्यायेन राज्यपालकं, ( इन्द्रश्च हवेहवे ) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं ( ह्वयामि ) आह्वयामि आश्रयामि । ( स्वस्ति नो भववा धात्विन्द्रः ) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु=निरन्तरं विजय-सुखं दधातु ॥ ११ ॥



भाषार्थ—( प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे ) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उन के क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूँ, और वे सदा मेरे समीप रहते हैं। ( प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ) उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूँ। ( प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् ) तथा सब सेना, राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच मैं भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूँ। ( प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे ) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूँ। ( प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ) जितना सूर्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सब के बीच मैं भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूँ। इस प्रकार से तुम लोग सुभ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो। जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है ॥ १० ॥

( त्रातारमिन्द्र ) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमेश्वर्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, ( अवितार० ) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, ( सुहवः शूरमिन्द्रः हवे हवे ) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध कराने वाला, शूरवीर और हमारा राजा है, ( ह्यमि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र ) जो अनन्त पराक्रम-युक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। ( स्वस्ति नो मधवा धात्विन्द्रः ) जो इन्द्र परमेश्वर मधवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देने वाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नः सुवर्ध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्या-  
येन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्यं पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा  
सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥ १२ ॥

य० अ० ६ । मं० ४० ॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईड्यो वन्धश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।

त्वं दैवीविश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥

अथर्व० तां० ६ । अनु० १० । व० ६८ । मं० १, २ ॥

भाव्यम्—( देवाः ) हे देवा विद्वांसः समासदः ! ( सहते क्षत्राय )

अतुलराजधर्माय ( महते ज्यैष्ठ्याय ) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय ( महते  
 ज्ञानराज्याय ) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय ( इन्द्रस्येन्द्रियाय )  
 सूर्यस्य प्रकाशवन्त्याय व्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय ( अस्यै विशे )  
 वर्चमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय ( इमम् ) ( असपत्नः सुवध्वम् ) इमं प्रत्यक्षं  
 शत्रुघ्नवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिष्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं  
 जानीत—( सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ) वेदविदां सभामदां मध्ये यो मनुष्यः  
 सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविधायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु ।  
 हे सभामदः ! ( अमी ) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान्प्रत्यप्येवमाज्ञा भ्राव्या—  
 ( एष वो राजा ) अस्माकं वो युष्माकं च 'ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव  
 राजास्तीति । एतदर्थं वयं ( इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रं ) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य  
 प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिञ्च्याष्यक्षत्वे स्वीकुर्म इति ॥ १२ ॥

( इन्द्रो जयाति ) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कप  
 सदा प्राप्नोतु । ( न पराजयातै ) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु ( अधिराजो  
 राजसु राजयातै ) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु  
 वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन महास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । ( चर्कृत्यः )  
 यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यै पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, ( ईडयः ) अस्मामिः  
 ॥ एवैकः स्तोतुं योग्यः ( वन्द्यश्च ) पूजनीयः ( उपसद्यः ) समाश्रयितुं योग्यः  
 ( नमस्यः ) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति । ( भवेह ) हे महाराजेश्वर ! त्वमुत्तम-  
 प्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्चमाना वयमप्यस्मिन्  
 चक्रवर्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥ १३ ॥

( त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः ) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽ-  
 धिराजोऽसि, 'श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च' स्वरूपया मामपि तादृशं कुरु ।  
 ( त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभि-  
 भूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । ( त्वं दैवीर्विश इमा  
 विराजाः ) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः,

प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु । ( युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मश्रुतं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवदत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्दिदातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( इमं देवा असपत्नम् ) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय । ( महते क्षत्राय० ) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ ( महते जानराज्याय ) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा ( इन्द्रस्येन्द्रियाय ) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ ( सुवध्वं ) अच्छे अच्छे राज्य—सम्बन्धी प्रबन्ध करो, कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥

( इन्द्रो जयाति ) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, ( न परा जयाता ) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, ( अधिराजो ) जो महाराजाधिराज ( राजसु राजयातै ) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, ( चकृत्यः ) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा ( ईड्यो बन्धश्च ) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, ( उपसद्यो नमस्यः ) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, ( भवेद् ) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करानेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है । इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये । और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥

( त्वमिन्द्राधिराजः श्रवत्युः ) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आत्मा के समान सत्यन्याय के उपदेशक, ( त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, ( त्वं दैवीविश्वे इमा विराजाः ) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का बुद्ध में पराजय कराने वाले हैं । ( युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ) हे जगदीश्वर ! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले । इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे अधीन हो ॥ १४ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीर्य उत प्रतिष्कभे ।

युष्माकमस्तु तविपी पनीयमी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । म० २ ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च० ॥ १६ ॥

अथर्व० वा० १५ । अनु० २ । व० ६ । म० २ ॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।

ग्रामजितं गोजितं वज्रवाहुं जयन्तमज्मं प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥

अथर्व० का० ६ । अनु० १० । व० ६७ । म० ३ ॥

सम्यं सभां मे पाहि ये च सम्याः सभासदः ।

त्वयेद्वाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यं श्रवम् ॥ १८ ॥

अथर्व० वा० १६ । अनु० ७ । व० ५५ । म० ६ ॥

भाष्यम्—( स्थिरा वः० ) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥

( तं सभा च ) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत । ( समितिश्च ) तमनुश्रित्यैव समितियुद्धमाचरणीयम् ( सेना च ) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्यात् ॥ १६ ॥

ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति—( सखायः ) हे सखायः ! ( इमं वीर-मुग्रमिन्द्रं ) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्मयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमेश्वर्यवन्तं परमेश्वरं ( अनु हर्षध्वं ) सर्वे यूयमनुमोदयध्वम्, एवं कृत्वैव दुष्ट-शत्रूणां पराजयार्थं ( अनु संरभध्वं ) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? ( ग्रामजितं ) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः ( गोजितं ) येनोन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं ( वज्रवाहुं ) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य ( जयन्तं ) जयं प्राप्नुवन्तं ( प्रमृणन्त-मोजसा ) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तम् ( अज्म ) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥

( सम्यं सभां मे पाहि ) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति ( ये च सम्याः सभासदः ) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां विविधां सभां पान्तु यथावद्वसन्तु ( त्वयेद्वाः पुरुहूत ) हे बहुभिः पूजित

परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गद्गत्<sup>१</sup> राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति,  
त एव सुखं प्राप्नुवन्ति ( विश्वमायुर्व्यर्शनम् ) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः  
शतवर्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( स्थिरा वः सन्त्वायुधा० ) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादिविषय में कर  
दिया है ॥ १५ ॥

( तं सभा च ) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान  
के, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। ( समितिश्च ) सब मनुष्यों को उचित  
है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा ( सेना च )  
जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना  
को बना के सबैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—( सखायः ) हे बन्धु लोगो !  
( इमं वीरं ) हे शूरवीर लोगो ! न्याय और दृढभक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट  
करके, ( अनु हर्षध्वं ) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो। ( उग्रमिन्द्रं ) तुम  
लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक संमति होकर ( अनु संरम्भध्वं ) दुष्टों को  
युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो। ( ग्रामजितं ) जिसने सब भूगोल तथा ( गोजितं )  
सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है ( वज्रबाहुं ) प्राण जिसके बाहु और  
( जयन्तं ) जो हम सबको जीताने वाला है, ( अहम् ) उसी को इष्ट जान के हम लोग  
अपना राजा मानें ( प्रमृणन्तमोजसा ) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके  
हम को सुख देता है ॥ १७ ॥

( सभ्य सभां मे पाहि ) हे सभा के योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की  
राजसभा की रक्षा कीजिये। ( ये च सभ्याः सभासदः ) हम लोग जो सभा के सभा-  
सद् हैं, सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य-न्याय की रक्षा  
करें। ( त्वयद्गद्गाः पुरुहूत० ) हे सब के उपास्यदेव ! ( विश्वमायुर्व्यर्शनम् ) हम लोग  
आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें<sup>२</sup>, जिससे संपूर्ण आयु को सुख  
से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तभुग्वत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्त्र ओजिष्ठ  
इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥

वृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै वृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धयत्यथो क्षत्रं वै वृहदात्मा  
यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् वृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥

१—सन्धिविच्छेद—सभासदः इद्गद्गत् इति ॥ सं० ॥

२—करते हैं—ह० ले० ( ६ ) । करते रहें—सं० १ ॥ सं० ॥

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥३॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा  
क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥

ऐ० प० ८ । अ० १ । क० २, ३ ॥

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय  
पारमेष्ठ्याय राज्याय महाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायामां' रोहामीति  
॥ ५ ॥

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिप्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ।  
ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं  
तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥

ऐ० पञ्च० ८ । अ० २ । क० ६, ६ ॥

भाष्यम्—इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेय-  
शतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते । तद्यथा—

( जनिष्ठा उग्रः० ) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मा-  
त्मानः, श्रेष्ठप्रकृतीन्मनुष्यान्प्रति, सदा सुखदास्तोम्या भवेयुः । तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो  
व्यवहारो धार्य इति । कुतो यद्राजकर्ममस्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्रद्, द्वितीय-  
मुग्रप्रदर्थत्ववचिदुद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्तव्यम्, अथचिद्विपर्यये राजपुरुषै-  
र्दुष्टेष्टुग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा ( मन्द्र  
भोजिष्ठः० ) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो, दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुष-  
सेनादिपदार्थमामग्रया सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥१॥

( बृहत्पृष्ठं० ) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति । तथा  
ष्टमर्थान्निर्गलानां रक्तं सत् पुनरुत्तमसुरकारकं भवति । एतेनोक्तेन च सत्रराज-  
कर्मणा मनुष्यो राजकर्म वर्द्धयति । नातोऽन्यथा सत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति ।  
तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्वज्रमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मा-

त्वदानन्दप्रदं भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं<sup>१</sup> निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥

( ब्रह्म वै रथन्तरं० ) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति । नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धि-रक्षणे भवतः । तथा ( क्षत्रे ब्रह्म ) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः । तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ॥ ३ ॥

( ओजो वा इन्द्रियं० ) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्तितव्यम् । कुत “ओज एव क्षत्रं, वीर्यमेव राजन्यं” इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति । इदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति ॥ ४ ॥

( तानहमनुराज्याय० ) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि-राजसत्ताप्राप्तये, ( साम्राज्याय ) सार्वभौमराज्यकरणाय, ( भौज्याय ) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, ( स्वाराज्याय ) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, ( वैराज्याय ) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, ( पारमेष्ठ्याय ) परमराज्यस्थितये, ( माहाराज्याय ) महाराज्यसुखभोगाय, तथा ( आधिपत्याय ) अधिपतित्वकरणाय, ( स्वाध्याय ) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, ( अतिष्ठायां० ) अत्युत्तमा विद्वांस-स्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च ( रोहामि ) वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥

( नमो ब्रह्मणे० ) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात् । यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति, तद्वाष्ट्रं सगृह्यं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥६॥

भाषार्थ—इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके । इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं—

( जनिष्ठा उग्रः० ) राजाओं की सेना और समा में जो पुरुष हों वे सब दुष्टों पर तेजधारो, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख दुःख के सहन करनेवाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना, यही राज्य का स्वरूप है। ( मन्द्र ओजिष्ठ० ) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है, वही राज्य का स्वरूप है ॥ [ १ ] ॥ क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है। इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की समा और सेना रख कर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥

( ब्रह्म ये रथन्तर० ) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् भाङ्गण है, वही राज्य के प्रबन्धों में सुरप्रप्ति का हेतु होता है। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है ॥ [ ३ ] ॥

उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको वृण्ड के भय से वल्लभन या अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों बल परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की वज्रति होती है ॥ [ ४ ] ॥

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजा का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वंश का राज्य इत्यादि उत्तम उत्तम सुख बढ़ते हैं ॥ [ ५ ] ॥

इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

सप्रजापतिका, अयं व देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः संहिष्ठ सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवामिपिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥

सत्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपति-  
रजनि विश्वामताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मजो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ म परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥

ऐत० प० ८ । अ० ३ । क० १२, १४ ॥

स एतेर्नन्त्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वार्थं जित्तीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रेष्ठ्यप्रतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं



स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिल्लोके स्वयंभूः  
स्वराडमृतोऽमुष्मिन्स्वर्गं लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण  
महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ ऐ० पं० ८ । अ० ४ । कं० १६ ॥

भाष्यम्—( सप्रजापतिका० ) सर्वे समासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन  
पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न  
कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रम-  
वत्तमः, ( बलिष्ठः ) सर्वोत्कृष्टबलसहितः ( सहिष्ठः ) अतिशयेन सहनशीलः,  
( सत्तमः ) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, ( पारयिष्णुतमः ) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽति-  
शयेन सर्वास्तारयितुं तमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति । वयं  
निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयु-  
रेवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्चर्य्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥

( सम्राजं० ) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, ( साम्राज्यं ) सावभौमराज्यं,  
( भोजं ) उत्तमभोगसाधकं, ( भोजपितरं ) उत्तमभोगानां रक्षकं, ( स्वराजं ) राज-  
कर्मसु प्रकाशमानं, सद्विद्यादिगुणैस्त्वहृदये देदीप्यमानं, ( स्वाराज्यं ) स्वकीयराज्य-  
पालनं ( विराजं ) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, ( वैराज्यं ) विविधराज्यप्राप्तिकरं,  
( राजानं ) श्रेष्ठैश्चर्य्येण प्रकाशमानं, ( राजपितरं ) राज्ञां रक्षकं, ( परमेष्ठिनं ) परमो-  
त्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, ( पारमेष्ठ्यं ) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयम-  
भिषिञ्चामहे । एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं ( क्षत्रमजनि ) प्रादुर्भवतीति ।  
अजनीति 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट्' [मष्टा० ३ । ४ । ६] इति वर्त्तमानकाले लुङ् ।  
( क्षत्रियोऽजनि ) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः, ( विश्व० ) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः  
समाध्यक्षः ( विशामत्ता० ) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, ( पुरां मे० ) शत्रुनगराणां  
विनाशकः, ( असुराणां हन्ता ) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, ( ब्रह्मणो० ) वेदस्य  
रक्षकः, ( धर्मस्य गो० ) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति ॥ ( स परमेष्ठी )  
स राजधर्मः समाध्यक्षादिमनुष्यैः ( प्राजापत्यः० ) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः ।  
न तद्भिन्नोऽर्थः केनचित्मनुष्येणैष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वर-  
पूजका भवेयुः ॥ ८ ॥

यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स ( एतेनैन्द्रेण ) पूर्वोक्तेन सर्वैश्चर्य्यप्राप्ति-

निमित्तेन ( महाभिषेकेणा० ) अभिषिक्तः स्वीकृतः, ( क्षत्रियः ) क्षत्रधर्मवान्,  
 ( सर्वा० ) सर्वेषु यद्वेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमौल्लोकांश्च विन्दति  
 प्राप्नोति । ( सर्वेषां राज्ञां० ) मध्ये श्रेष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तमतिष्ठां<sup>१</sup>, या परेषु  
 शत्रुषु विजयेन हर्षनिमिच्छा तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमिच्छा सा परमत्ता<sup>२</sup> सभा,  
 तां वा गच्छति प्राप्नोति । तथा सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं  
 परमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो  
 महाराजाधिराजो भवति । तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके  
 परब्रह्मणि ( स्वयम्भूः ) स्वाधीनः, ( स्वराट् ) स्वप्रकाशः, ( अमृतः ) प्राप्तमोक्षसुखः  
 सन्सर्वान्कामान्प्राप्नोति ।<sup>३</sup> ( आप्त्वामृतः० ) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति ।  
 ( यमेतेनैन्द्रेण०<sup>३</sup> ) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण ( शापयित्वा ) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं  
 सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति ।  
 तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में  
 होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है ।  
 ( मप्रजापतिका० ) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं । क्योंकि  
 वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है । तथा  
 अत्यन्त महान्स्वभाव और सब से उत्तम है । वही हमको सब दुःखों के पार उतार के सब  
 सुखों को प्राप्त करानेवाला है । उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में  
 अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं । तथा जिसका नाम इन्द्र  
 अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त है ॥ [ ७ ] ॥

वही हमारा मन्त्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा, और वही हमको भी चक्रवर्ति  
 राज्य देनेवाला है । जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला, स्वराट्  
 अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है । तथा जो विराट्  
 अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब  
 राजाओं का पिता मानने हैं । क्योंकि वही परमेश्वरी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है ।  
 उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया, अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का  
 अधिपति हुआ । तथा प्रजाओं का समस्त, दुष्टों के नगरों का भेदन, अमर अर्थात्

१—सदृश २—पूर्वोक्ता प्रतिष्ठा ॥ स० ॥

२—वृत्ता० म०—परमता ॥ स० ॥

३—मूल में—( परमेनैन्द्रेण ) ॥ स० ॥

चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूँ ॥ [ ८ ] ॥

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है । तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है । जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है । क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है । इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम । साम्राज्यं वै साम ॥ [ १० ] ॥

अ० का० १२ । अ० ८ । आ० ३ । [ कं० १६, २३ ] ॥

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षेत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ॥ युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम् ॥ [ ११ ] ॥

अ० का० १३ । अ० १ । आ० ५ । [ कं० ३, ६ ] ॥

राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥ [ १२ ] ॥ अ० का० १३ । अ० १ । आ० ६ । [ कं० ३ ] ॥

राजन्य एव शौर्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ॥ [ १३ ] ॥

अ० का० १३ । अ० १ । आ० ६ [ कं० २ ] ॥

भाष्यम्—( क्षत्रं वै० ) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृदर्थदिष्टसुखकारि, ( क्षत्रं वै साम ) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति । ( साम्राज्यं वै० ) तद्वै श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति ॥ [ १० ] ॥

( ब्रह्म वै० ) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । ( क्षत्रं वै० ) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुमर्हति । ( तदस्य ब्रह्मणा० ) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति । नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः । ( युद्धं वै० ) अत्रेदं बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्यं बलं भवति । नानेन विना महाधन-सुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः ? निबं० अ० २ । खं० १७—संग्रामस्यैव

महाधनमंजत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संग्रामो, नास्मादिना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः ॥ [ ११ ] ॥

( राष्ट्रं वा अश्वमेधः ) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति । नारवं हत्वा तदज्ञानां होमकरणं चेति ॥ [ १२ ] ॥

( राजन्य एव० ) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्यं महिमानं दधाति, तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति । तस्मात्कारणाद्राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः, ( इष्यः ) ज्ञातृप्रक्षेपणे कुशलः, ( अतिव्याधी ) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, ( महारथः ) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाप रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो ( जज्ञे ) जातोऽस्ति, नैव कदाचित्-स्मिन्मयदुःखे सम्भनतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( क्षत्रं वै० ) राजसमाप्रवन्त्य से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही सिद्धहस्त अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है । ( क्षत्रं वै सा० ) जो राजकर्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है, [ ( साध्वर्थ० ) ] वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है ॥ [ १० ] ॥

( मन्त्र वै० ) जो मनुष्य मन्त्र अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है । ( क्षत्र० ) जो इन्द्रियों का जीमनेवाला, पण्डित, शूरताविगुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है, सो क्षत्रिय होने के योग्य है । ( तदस्य मन्त्राणां० ) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती । ( युद्ध वै० ) यहाँ इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही उसका बल होता है । उसके बिना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती । क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है । सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े बड़े उत्तम पदार्थ होते हैं, क्योंकि बिना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता ॥ [ ११ ] ॥

[ ( राष्ट्र० ) ] और जो न्याय से राज्य का पालन करता है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है । किन्तु छोटे को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है ॥ [ १२ ] ॥

( राजन्य एव० ) पूर्वोक्त राजा जय शूरतारूप कीर्ति को धारण करता है, तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को क्षम्य होता है । इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, जग्न अस्त्र चलाने में अतिचतुर, और जिसका रथ पृथिवी,

समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते ॥ [ १३ ] ॥

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ॥ विड्वै गमो राष्ट्रं पमो राष्ट्रमेव विद्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ॥ [ १४ ] ॥

ख० का० १३ । अ० २ । त्र० ६ । [ क० २-६, ८ ] ॥

भाष्यम्—( श्रीर्वै राष्ट्रम् ) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति ( श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति ( श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति । ( क्षेमो वै रा० ) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति । ( विड्वै गमो ) विडू या प्रजा सा गमाख्यास्ति ( राष्ट्रं पमो० ) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, ( तस्माद्राष्ट्री वि० ) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति । ( विशमेव राष्ट्राया० ) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति । यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्यपदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, ( न पुष्टं पशु म० ) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेद्वितीर्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते । तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ॥ [ १४ ] ॥

[ इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः ]

भाषार्थ—( श्रीर्वै राष्ट्रं ) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है । तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है । राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि जहां एक को

राजा मानने हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है । इसी से क्रिमि की उन्नति नहीं होती ॥ [ १४ ] ॥

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्यन्त वराचर चला आया है, जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है । उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है । और आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद और न्यायाधीश का ही गिना जाता था । इसलिये वे लोग मर्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था । और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे । यही मंत्र आर्यों का सिद्धान्त है । अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में ऋग्वेदां वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ संदेह नहीं ।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

# अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्युक्तस्तदर्थश्च । तस्यायं शेषः—

वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ । ख० ३ ॥

ब्रह्म हि ब्राह्मणः । क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ॥ २ ॥

श० कां० ५ । अ० १ । ब्रा० १ । [ कं० ११ ] ॥

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः ॥ वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू, वीर्यं वा एतदपांशरसः ॥

श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० १ । [ कं० १५, १७ ] ॥

इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० २ । [ कं० २ ] ॥ [ ... ]

भाष्यम्—वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा, गुण-  
कर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं त्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥

( ब्रह्म हि ब्राह्मणः ) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो  
विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव ( क्षत्रं हीन्द्रः ) क्षत्रं  
क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् क्षत्रिणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च  
प्रजापालनतत्परः, ( [ क्षत्रं ] राजन्यः ) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥

( मित्रः ) सर्वेभ्यः सुखदाता, ( वरुणः ) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः  
हमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम्, ( वा ) अथवा ( वीर्यं ) पराक्रमो बलं  
चैतदुभयं ( राजन्यस्य ) क्षत्रियस्य बाहू भवतः, ( अपां ) प्राणानां, यो ( रसः )  
आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्यं वर्धते, तस्य ( इषवः ) वाणाः,  
शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, ( दिद्यवः ) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है । इस में यह विशेष जानना चाहिये  
कि प्रथम मनुष्य जाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण  
सृष्टिविषय में लिख दिया है । तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र सृष्टिविषय में  
लिख चुके हैं । वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और  
निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहां भी लिखते हैं—

मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इन के दो भेद हैं—एक आर्य्य और दूसरा दक्षु। इस विषय में यह प्रमाण है कि 'विज्ञानी-ह्यार्य्यान्ये च दक्षवो०' अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है, कि हे जीव। तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दक्षु अर्थात् दुष्टभानयुक्त ढाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्या के ये दो भेद जान ले। तथा 'उत शूद्रे उत आर्य्ये' इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा 'असुर्या नाम ते लोका०' इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर सप्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण धर्मों से नित्ये गये हैं।

( वर्णो० ) इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुण कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये। ( ब्रह्म हि ब्रा० ) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। ( क्षत्र० हि० ) परम ऐश्वर्य ( धातु० ) बल, वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं ॥ १-३ ॥ [ ]

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्य्यगृहस्थजानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ब्राह्म। गृहाश्रमेणोचमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या। वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विशाफलविचारणादि च कार्य्यम्। संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् मिद्विः सम्पादनीया। एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ब्राह्मः।  
अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य्यं उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रींस्तिष्ठत्त उदरं निभर्त्ति तं जातं ब्रह्ममभिसंर्यन्ति देवाः ॥ १ ॥

इयं सुमिर्त्पृथिवीं द्यौर्द्वितीयोत्तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेतलया श्रमेण लोकांस्तर्पसा विपत्ति ॥ २ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्मे वसानस्तत्प्रसोदतिष्ठत्।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाञ्च सर्वं अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० ११। अनु० ३। य० ५। म० २-५ ॥

भाष्यम्—( आचार्य्य उ० ) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो नियापठनार्थमुपगीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गममिव कृणुते करोति। तं तिस्रो



रात्रीस्त्रिदिनपर्यन्तमुदरे बिभर्त्ति, अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति, पठनस्य च रीतिमुप-  
दिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो  
द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभागयोदयेने-  
श्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥

( ह्यं समित्० ) ह्यं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स  
ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान्सर्वान्प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति ।  
( समिधा ) अग्निहोत्रादिना, ( मेखलया ) ब्रह्मचर्यचिह्नधारणेन च ( श्रमेण )  
परिश्रमेण, ( तपसा ) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च ( लोकां० ) सर्वान्  
प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥

( पूर्वो जातो ब्रह्म० ) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, ( धर्म  
वसानः ) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्राह्मणोऽर्थाद्देवं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्र-  
माणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, ( तपसा ) धर्मानुष्ठानेन ( उदतिष्ठत् ) ऊर्ध्वं  
उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात्कारणात् ( ब्रह्म ज्येष्ठं ) ब्रह्मैव परमेश्वरो  
विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्म ज्येष्ठम्, ( अमृतेन ) परमेश्वरमोक्षबोधेन  
परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं ( ब्राह्मणं ) ब्रह्मविदं ( जातं ) प्रसिद्धं ( देवाः )  
सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,  
वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं । इनमें से पांच वा आठ वर्ष की उमर  
से अड़तालीस वर्ष पर्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है । इसके विभाग पितृव्यज्ञ में  
कहेंगे । वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है । दूसरा गृहाश्रम  
जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और  
उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है । तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि  
साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है । चौथा  
संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के  
उपकार के अर्थ किया जाता है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार  
आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है । इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो  
कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक ठीक सुघरने से सब आश्रम सुगम और

विगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं—

( आचार्य्य ३० ) अर्थात् जो गर्भ में घस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विगा माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। लग्न आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तन्त्र होवे हैं। उनको आचार्य तीन रात्रिपर्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य मुख्य बातें हैं, ये सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अभ्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥ १ ॥

( इयं समिन् ० ) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं, कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥ २ ॥

( पूर्णो जातो ब्र० ) जो ब्रह्मचारी पूर्व पद के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुण्यार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है ( ब्रह्म ज्येष्ठ० ) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः काष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घदर्मयुः ।

स मय एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृह्य मुहुराचरिक्त् ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मो लोकं प्रजार्पति परमेष्ठिनं विराजम् ।

गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्दो ह भूत्वाऽमुरास्ततर्ह ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्येण तपमा राजां राप्त्ं वि रक्षति ।

आचार्ये ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण कन्याः युवानं विन्दते पतिम् ।

अनृषान् ब्रह्मचर्येणाश्वो धानं जिगीषति ॥ ७ ॥

ब्रह्मचर्येण तपमा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्मृश्रामरत् ॥ ८ ॥

अथर्व० वा० ११ । अनु० ३ । [ व० ५ ] म० ६, ७, १७-१८ ॥

भाष्यम्—( ब्रह्मचार्येति० ) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया ( समिधा ) विद्यया ( समिद्धः ) प्रकाशितः, ( काष्णं ) मृगचर्मादिकं ( वसानः ) आच्छादयन्, ( दीर्घ-  
श्मश्रुः ) दीर्घकालपर्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, ( दीक्षितः ) प्राप्तदीक्षः  
( एति ) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा ( पूर्वस्मात् ) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात्  
( उत्तरं ) गृहाश्रमं समुद्रं ( सद्य एति ) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान्सर्वान्  
( लोकान्सं० ) संगृह्य सुहृर्वारंवारं ( आचरिक्तु ) धर्मोपदेशयेव करोति ॥ ४ ॥

( ब्रह्मचारी ) स ब्रह्मचारी ( ब्रह्म ) वेदविद्यां पठन्, ( अपः ) प्राणान्,  
( लोकं ) दर्शनं, ( परमेष्ठिनं ) प्रजापतिं ( विराजं ) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं ( जन-  
यन् ) प्रकटयन्, ( अमृतस्य ) मोक्षस्य ( योनौ ) विद्यायां ( गर्भो भूत्वा ) गर्भ-  
वन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, ( इन्द्रो ह भूत्वा ) सूर्यवत्प्रकाशकः सन्  
( असुरान् ) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाखण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् ( ततर्ह )  
तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति,  
तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥

( ब्रह्मचर्येण० ) तपसा ब्रह्मचर्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्ट-  
तया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्येणैव विद्यां प्राप्य  
ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति । अत्र प्रमाणम्—‘आचार्यः कस्मादाचारं  
ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा’ ॥ निह० अ० १ । खं० ४ ॥ ६ ॥

( ब्रह्मचर्येण० ) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं  
स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अतर्ह्वानित्युपलक्षणं  
वेगवतां पशूनाम् । ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्येण स्वविरोधिनः  
पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्यं कर्त्तव्य-  
मित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

( ब्रह्मचर्येण तपसा देवा० ) देवा विद्वांसो, ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्म-  
विज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च, मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाध्नत नित्यं घ्नन्ति  
नान्यथा । ब्रह्मचर्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे, यथा इन्द्रः सूर्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः  
स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति, तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं  
च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः

सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कृतः शाखाः । किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफल-  
च्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( ब्रह्मचार्येति० ) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है । तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्ण समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उत्तर के उत्तर समुद्ररूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है, और अन्धरी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥

( ब्रह्मचारी ज० ) यह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ ज्ञान के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सद्यसे बढ़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त हो के असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥ ५ ॥

( ब्रह्मचर्येण त० ) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पद के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है । आचार्य्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥

( ब्रह्मचर्य्येण क० ) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे । इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि अनन्तवान अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम में रहता जाय, तो अत्यन्त यत्नवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥

( ब्रह्मचर्य्येण त० ) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में रियत हो के सद्य लोको का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित हो के सद्य को प्रकाशित कर देता है । इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सद्य आश्रमों से उत्तम है ॥ [ ८ ] ॥

इति ब्रह्मचर्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्तमायां यदिन्द्रिये ।

यदेनश्चक्रमा व्यभिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥

देहि मे ददामि ते नि मे देहि नि ते दधे ।

निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥

गृहा मा विभीतु मा वेपध्वमूर्जं विभ्रत एमसि ।

ऊर्जं विभ्रदः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥

येषामध्येति प्रवसन्त्येषु सौमनसो बभूवुः ।

गृहानुपेहयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥

उपेहता इह गाव उपेहता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाल उपेहूतो गृहेषु नः ।

क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपञ्चे शिवश्च शुग्मश्च शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥

य० अ० ३ । मं० ४४, ५०, ४१-४३ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति ।

( यद् ग्रामे० ) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानो-  
त्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं  
विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं  
कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैव पापं च कृतं,  
तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ९ ॥

( देहि मे० ) परमेश्वर आज्ञापयति, हे जीव ! त्वमेवं वद—मे मह्यं देहि,  
मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं  
मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च देहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं  
च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते  
तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददामि । स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं  
सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्व्यामिति सत्येनैव सर्वं  
व्यवहारं कुर्व्युः ॥ १० ॥

( गृहा० ) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि  
प्राप्नुत । गृहाश्रमानुष्ठाने ( मा विभीत ) भयं मा प्राप्नुत । तथा ( मा वेपध्वं ) मा  
कम्पध्वम् । ( ऊर्जं विभ्रत एमसि ) ऊर्जं बलं पराक्रमं च विभ्रतः, पदार्थानेमसि  
वयं प्राप्नुम इतीच्छत । ( ऊर्जं विभ्रदः ) नो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं विभ्रत्सन्,

( सुमनाः ) शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः ( मनसा मोदमानः ) प्राप्तानन्दः,  
( गृहानमि ) गृहाणि प्राप्नोमि ॥ ११ ॥

( येषामध्येति प्र० ) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य ( बहुः ) अधिकः  
( सौमनसः ) आनन्दो भवति, तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स ( अध्येति )  
स्मरति, ( गृहानुपहृत्यामहे ) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः  
सखियन्त्रात्राप्यादीक्षिमन्त्रयामहे । ( ते नः ) विवाहनिमित्तकेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान्  
( जानतः ) प्रौढज्ञानान् युवावस्थास्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते ( जानन्तु )  
अस्माकं साक्षिणः सन्तिवति ॥ १२ ॥

( उपहृता इह० ) हे परमेश्वर ! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशु-  
पृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाहादादयः उपहृताः अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु । तथा  
( अजाययः ) उपहृता अस्मदनुकूला भवन्तु । ( अथो अन्नस्य की० ) अथो इति  
पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो  
विश्लेषेणोत्तमरस उपहृतः सम्यक् प्राप्तो भवतु । ( क्षेमाय वः शान्त्यै० ) वो युष्मान्,  
अत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति, तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै  
सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि । तत्प्राप्त्या ( शिवं ) निश्चयेयसं कल्याणं पारमार्थिकं  
सुखं ( शम्भं ) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयात् । शंभोः शमिति  
निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य  
सुखस्योन्नतिं कुर्मः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( यद् ग्रामे० ) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़  
शुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे, और ये दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में  
चलें, जो कि मिश्रह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं । परन्तु उनसे जो विशेष  
फटना है सो यहाँ लिखते हैं—गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और मागवासियों के हित  
के लिये जो जो काम करना है, तथा ( यदरण्ये ) वनवासियों के साथ हित और  
( यत्समायाम् ) समा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख  
देने के लिये, ( यदिन्द्रिये ) जितेन्द्रियता से ज्ञान की श्रद्धा करनी चाहिये, सो सो सब  
काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें । और ( यदेनश्चकृ० ) पाप करने की बुद्धि  
को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ६ ॥

१—शिव शममिति सुखनाममु, निघ० ३।६॥ अथवा शयो पदनाममु, निघ०  
४।१। अथ यतो. अन्त्य पास्वीयमर्धद्वय ( निघ० ४।२२ ) अथ शमित्वच्चोऽन्तर्हितमिति  
उपदिः ॥ ८० ॥

परमेश्वर उपदेश करता है कि ( देहि मे० ) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा दें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। ( नि मे धेहि, नि ते दधे ) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। ( निहारं च हरासि मे नि० ) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा, इस को भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है ॥ १० ॥

( गृहा मा विभीत० ) हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य लोगो। तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो, और उससे डरो व कंपो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि, मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूँ ॥ ११ ॥

( येषामध्येति० ) जिन घरों में बसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धि मित्र बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक ठीक प्रतिज्ञा करने वाले जानें, अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥ १२ ॥

( उपहू० ) हे परमेश्वर। आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, चकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'यः' यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः' यह निवचद्वय में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्या-  
चार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका  
भवन्ति ॥ [ १ ] ॥

छान्दोग्य० प्र० २। ख० २३ [ प्रवाक १ ] ॥

भाष्यम्—( त्रयो धर्म० ) अत्र सर्वेष्व्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति । अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमग्रमादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्, वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते नान्यथेति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( त्रयो धर्म० ) धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में वस के विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की सन्नति करना मनुष्यों का धर्म है ॥ [ १ ] ॥

[ इति वानप्रस्थविषय संक्षेपतः ]

[ अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः— ]

ब्रह्मचर्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यक् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तु-व्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य संन्यासी भवेत् । अर्थात् 'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्' इत्येकः पक्षः । 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा' अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृहीपादिति द्वितीयः पक्षः । 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' सम्पन्नब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृहीपादिति तृतीयः पक्षः । सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्तव्यमित्यापाति । कुतः ? ब्रह्मचर्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ।

भाषार्थ—तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं—उन में एक यह है कि जो विषय भोग क्रिया पादे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे । दूसरा 'यदहरेव प्र०' जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चिच इटकर ठीक ठीक सत्यमार्ग में निश्चित होजाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास



हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ [ १ ] ॥

छान्दो० प्रपा० २ । सं० २३ । [ प्रवाक १ ] ॥

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति ॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वं ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति । या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे हेते एषणे एव भवतः ॥ [ २ ] ॥

श० कां० १४ । अ० ७ । प्रा० २ । [ सं० २५, २६ ] ॥

भाष्यम्—( ब्रह्मसंस्थः० ) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी ( अमृतत्वम् ) ( एति ) प्राप्नोति ॥ [ १ ] ॥

( तमेतं वेदा० ) सर्व आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिमतमेतं परमेश्वरं सर्व-भूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति । ( ब्रह्मचर्येण० ) ब्रह्मचर्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रभ्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति । प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति । ( एतद् ब्रह्म० ) य एतदिच्छन्तः सन्तः, पूर्वं अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, ( ते ह स्म० ) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रीतिफुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति ।

एवं ते ( पुत्रैषणायाश्च ) पुत्रोत्पादनेच्छायाः ( वित्तैषणायाश्च ) जडधन-

१—संन्यासिनस्तमेतं, पाठ होना चाहिये ॥ सं ॥

२—एतं—ह० ले० । एतं—सं० १ ॥ सं० ॥

प्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः ( लोकैषणायाश्च ) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च ( व्युत्थाय ) विरज्य ( भिक्षाचर्य्यं च० ) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येपणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वं पुत्रैषणालोकैषणे भवतः । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येपणेच्छास्ति, तस्यैतात्तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दविचेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वान्मनुष्यान्नुगृह्यन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥ [ २ ] ॥

भाषार्थ—( ब्रह्मसंस्थः० ) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं ॥ [ १ ] ॥

( तमेतं० ) और वेद को पद के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा ( ब्रह्मच० ) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तित्यान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं । जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के बिना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं । और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हीं को सच से उत्तम मानकर 'पुत्रैषणा' अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, 'वित्तैषणा' अर्थात् धन का लोभ, 'लोकैषणा' अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं । अर्थात् सर्वगुरु सच के अतिथि होके विचरते हुए मंसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥ [ २ ] ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥ [ ३ ] ॥

इति शतपथे धृत्यधाराणि ॥<sup>१</sup>

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।

तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादान्मज्जं क्षर्चयेद्भूतिकामः ॥ [ ४ ] ॥

मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ । सं० १ । मं० १० ॥

भाष्यम्—( प्राजापत्या० ) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं

१—मुलना कीजिये-सत्याग्रहप्रकाश समुल्लास ५ में उद्धृत वचन से । तथा मनु अ० ६ । श्लो० ३८ और न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य अ० ४-] आ० १ । सू० ६२, ते ॥ सं० ॥

कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य, तस्यां ( सर्ववेदसं० ) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति ।

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेपरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यास-ग्रहणाधिकारो भवति, नान्यविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यद्बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः । सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यतासत्योपदेशकरणेन सर्व-मनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवं लक्षणाः, पञ्चमहायज्ञा विज्ञान-धर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वैकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादि-विशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥ [ ३ ] ॥

( विशुद्धसं० ) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः ( यं यं लोकं मनसा० ) ध्यानेन संविभाति इच्छति, ( कामयते यांश्च कामान् ) यांश्च मनोरथानिच्छति, ( तं तं लोकं तांश्च कामान् ) जायते प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् ( भूतिकामः ) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः, ( आत्मज्ञं० ) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्व्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदालोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्विज्ञानं मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान्पाखण्डिनः कोऽपि नैवार्चयेत् । कुतः ? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति ॥ [ ४ ] ॥

[ इति वर्णाश्रमविषयः संचेपतः ]

भाषार्थ—( प्राजापत्या० ) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम कर के, गृहस्थ आश्रम को छोड़ के, विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें ॥ [ ३ ] ॥

( यं यं लोक० ) वह शुद्ध मन से जिस जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उस की सिद्ध हो जाती हैं । इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे ॥ [ ४ ] ॥

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं । क्यों कि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ़

कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिपति जो ईश्वर है, उस का ज्ञान अन्वी प्रकर करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके बिना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

इति [ संन्यास ] आश्रमविषयः संक्षेपतः

[ इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः ]

# अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः । तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यग्ध्ययन-मध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम् । तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठन-पाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः । सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः । तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः । अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

य० अ० ३ । मं० १ ॥

अग्निं दूतं पुरो देधे हव्यवाहमुप जुवे । देवाँ २ ॥ आ सादयादिह ॥ २ ॥

य० अ० २२ । मं० १७ ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनस्यं दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधि वयंत्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनस्यं दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥

अथर्व० कां० १६ । अनु० ७ । मं० ३ । ४ ॥

भाष्यम्—( समिधाग्नि० ) हे मनुष्या वाय्वोषधिबृष्टिजलशुद्ध्या परोप-काराय, ( घृतैः ) घृतादिभिरशोधितैर्द्रव्यैः, समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत । ( अस्मिन् ) अग्नौ ( हव्या ) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्ध-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि ( आ जुहोतन ) आ समन्ताज्जुहुत । एवमग्निहोत्रं नित्यं ( दुवस्यत ) परिचरत । अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥

( अग्निं दूतं ) अग्निहोत्रकर्त्तव्यमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् ( पुरो देधे ) सम्मुखतः स्थापये । कथम्भूतमग्निं ? ( हव्यवाहं ) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाह, तं ( उपजुवे ) अन्यान् जिज्ञासुन्प्रत्युपदिशानि ( देवाँ २ ॥ ० ) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन्संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति ।

यद्वा

हे परमेश्वर ! ( दूतं ) सर्वेभ्यः मत्प्रोपदेशकं ( अग्निं ) अग्निसंज्ञकं त्वां ( पुरोदधे ) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये । तथा ( हव्यवाहं ) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति त्वं त्वा ( उपब्रुवे ) उपदिशानि । त्वं भवान् कृपया ( इह ) अस्मिन् संसारे ( देवान् ) दिव्यगुणान् ( आसादयात् ) आ समन्तान् प्रापयतु ॥ २ ॥

( नः ) अस्माकमयं ( अग्निः ) भौतिकः परमेश्वरश्च ( गृहपतिः० ) गृहात्मपालकः प्रातःसाय परिचरितः स्रपासितश्च ( सौमनस्य दाता ) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति । तथा ( वसोर्व० ) उच्चमोचमपदार्थस्य च दातास्ति । अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाख्यायते । हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च ( एधि ) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः । ( वयं त्वे० ) हे परमेश्वर ! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं ( तन्वं ) शरीरं ( पुपेम ) पुष्टं कुप्यामि । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥

( प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो० ) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम्-एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, ( शतहिमाः ) शतं हिमा हेमन्तर्चवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् ( ऋधेम ) वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्दानिर्न भवेदितिच्छामः ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रकरणार्थं ताग्रस्य मृत्तिकाया वैर्का वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संशुद्ध, तत्र वेद्यां पलाशाभ्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुप्यात् ।

भाषार्थ—अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् वो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहिये, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं । उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिसमें, अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये । इनमें पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं, वहां देख लेना । तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं, वैसा जान लेना ।

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—( समिधाग्नि० ) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से, सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो । फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशरि<sup>१</sup>, कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो ॥ १ ॥

( अग्नि दूत० ) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे, कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमंडल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाई अपने सामने स्थापन करता हूं । क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचानेवाला है । इसी से उसका नाम 'हव्यवाट्' है । जो उस अग्निहोत्र को जा[न]ना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से ( इह ) इस संसार में ( देवां २ ॥ ० ) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है ।

दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूं । ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विरोधज्ञानदायक उपदेश करूं । तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥

( सायंसायं० ) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, ( सौमनस्य दाता ) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है । इसीसे परमेश्वर ( वसुदानः ) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो । यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है । ( वयं त्वे० ) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको मान करते हुए अपने शरीर से ( पुषेम ) पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥

( प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो० ) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो । परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग ( शतद्धिमाः ) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष तक, धनादि पदार्थों से ( ऋधेम ) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥

अग्निहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आव्यस्थाली अर्थात्

घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढांक वा आग्न आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातः काल ही नित्य होम करें ।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः—

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥

सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

सृजुदेवेन सवित्रा सृजूरुपसेन्द्रवत्या ।

जुपाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥—इति प्रातःकालमन्त्राः ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ ३ ॥

सृजुदेवेन सवित्रा सृजू राज्येन्द्रवत्या ।

जुपाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥ य० अ० ३ । य० ६-१० ॥

भाष्यम्—( सूर्यो० ) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारार्थैकाहुतिं दत्तः ॥ १ ॥

( सूर्यो वर्चो० ) यो वर्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

( ज्योतिः सूर्यो० ) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥

( सृजू० ) यो देवेन घोटकेन सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च सह, तथा ( इन्द्रवत्या ) सूर्यप्रकाशवत्योपसाधया जीववत्या मानसवृत्या ( सृजूः ) सह वर्चमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः ( जुपाणः ) सम्प्रीत्या वर्चमानः सन् ( सूर्यः ) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् ( वेतु ) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥ ४ ॥



इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ।

अथ सायंकालाहुतयः—( अग्निज्योतिः० ) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ १ ॥

( अग्निर्वर्चो० ) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

अग्निज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया । तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥

( सजूर्दे० ) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्र-  
वत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्तते सोऽग्निः ( जुषाणः ) सम्प्रीतोऽस्मान्  
( वेतु ) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति  
पूर्ववत् ॥ ४ ॥

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा ।

( सर्व वै० ) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते  
तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते । तथैतरेयब्राह्मणे  
पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा  
'भूभुवः स्वरोमि'त्यादयो दर्शिताः ॥

भाषार्थ—( सूर्यो ज्यो० ) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि  
प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम  
करते हैं ॥ १ ॥

( सूर्यो वर्चो० ) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं का देने  
वाला और हम से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र  
करते हैं ॥ २ ॥

( ज्योतिः सू० ) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात्  
संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥

( सजूर्देवेन० ) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ  
संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को  
प्रहण करे ॥ ४ ॥

इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ।

अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—( अग्निज्यो० ) अग्नि जो  
ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते  
हैं । और उसका रचा हुआ यद् भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को

परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे । जिससे सब संसार को मुक्त और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥

( अग्निर्यजुर्चो० ) अग्नि परमेश्वर वर्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और वृद्धि का बढ़ानेवाला है । इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं । यह दूसरी आहुति है ॥ [ २ ] ॥

तीमरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी ॥ [ ३ ] ॥

और चौथी ( सजुर्देवेन० ) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥ [ ४ ] ॥

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥

ओम्भुवर्षायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥

ओं सरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥

ओम्भूर्भुवः स्वरग्निराग्न्यादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो स्वाहा ॥ ५ ॥

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥ ६ ॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ॥

भाष्यम्—एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीधरस्य नामान्येव वेदानि । एषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धि, पुष्टि, मिष्ट, शुद्धिशुद्धि, शौर्य, धैर्य, बल, रोगनाशकरैर्गुणैर्बुक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन, वायुशुष्टिजलयोः शुद्ध्या, पृथिवीमध्यपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मचूर्णां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीधरानुग्रहश्च भवत्येतदाधर्ममग्निहोत्रकरणम् ।

भाष्यार्थ—इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ में इनके अर्थ कर दिये हैं ।

इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो तो, 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे। जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं। जो जो केशरि, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परमसुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है। ऐसे ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्मसंघटयते, नैव मृतकेषु । कुतः ? तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थंकृत-कर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनेसा धिर्यः ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मां ॥ १ ॥

य० अ० १६ । मं० ३६ ॥

इयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति ॥ [ २ ] ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५ ॥

विद्वांसो हि देवाः ॥ [ ३ ] ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥

अथर्विप्रमाणम्—

तं युञ्जं वहिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।

तेन देवा अपजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ १ ॥ य० अ० ११ । म० ६ ॥

अयं यदेवानुब्रवीत् । तेनपिभ्य ऋगं जायते तद्धचेभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनुचानमाहुः ॥ [ २ ] ॥ य० वा० १ । अ० ७ । प्रा० २ । क० ३ ॥

अथापेऽं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्पयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादापेयं प्रवृणीते ॥ [ ३ ] ॥

य० वा० १ । अ० ४ । प्रा० २ । क० ३ ॥

भाष्यम्—( जातवेदः ) हे परमेश्वर ! ( मा ) मां ( पुनीहि ) सर्वथा परित्रं कुरु । भग्ननिष्ठा, भग्नदाज्ञापालिनो ( देवजनाः ) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विशादानेन ( मा ) मां ( पुनन्तु ) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा ( पुनन्तु मन० ) भग्नदत्तरिक्षानेन भग्नद्विपक्षध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु परित्रा भवन्तु । तथा ( पुनन्तु मिथा भृतानि ) मिथ्यानि सर्गाणि संसारस्थानि भृतानि पुनन्तु भग्नकृपयासुखानन्दपुष्कानि पवित्राणि भवन्तु ॥ [ १ ] ॥

( द्वयं वा० ) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति । तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः ( सत्यमेव० ) यत्सत्यमचनं, सत्यमानं, सत्यकर्म, तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतमचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्यश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा धर्मेन्मन्येत दुष्यति । यः सत्यप्रभो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च ॥ [ २ ] ॥

[ ( मिद्वा० ) ] तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ [ ३ ] ॥

( त यज्ञम्० ) इति सृष्टिमिद्यामिषये व्याख्यातः ॥ [ १ ] ॥

( अथ यदेना० ) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदपि कृत्यं निज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैर्पयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेनाकर्तृभ्य एव सुरकारी भवति । यः सर्वविद्यामिदं भूत्वाऽध्यापयति तमेवानुचानमृषिमाहुः ॥ [ २ ] ॥

( अथार्षेयं प्रवृ० ) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं ( प्रापत् ) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥ [ ३ ] ॥

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उनमें से जिस कर्म करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहा जाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुएों में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है । है । इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है । क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर । वेदों में प्रमाण—

( पुनस्तु० ) हे जातवेद परमेश्वर । आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये, और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं, अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं, वे मुझको विद्यावान् से पवित्र करें । और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों । तथा ( पुनस्तु विश्वा भूतानि ) सब संचारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें ॥ [ १ ] ॥

( द्वयं वा० ) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य । उनमें भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं । ( सत्यमेव० ) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव, तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहाते हैं । इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है । इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें । क्योंकि सत्यव्रत आचरण करने वाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं । परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं ॥ [ २ ] ॥

[ ( विद्वा० ) ] इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं ॥ [ ३ ] ॥

[ ऋषियों में प्रमाण— ]

( तं यज्ञं० ) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है ॥ [ १ ] ॥

( अथ यदेवा० ) जो सब विशाओं को पद के औरों को पढ़ाना है, यह

ऋषिकर्म कहाता है । और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सनकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है । इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवा कर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार ( निधिगोप ) अर्थात् विद्यागोप का रक्षक है ॥ [ २ ] ॥

( अर्थाप्य प्रवृ० ) विद्या पद के सर्वों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । इससे आप्य अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥ [ ३ ] ॥

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।

स्वधा स्थं तर्पयत मे पितृन् ॥ १ ॥ य० अ० २ । म० ३४ ॥

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निप्यात्ताः पथिमिर्देव्यानिः ।

अस्मिन् यज्ञे स्रधया मदन्तोऽधिं ब्रुवन्तु तेऽवन्त्यस्मान् ॥ २ ॥

य० अ० १६ । म० ५८ ॥

भाष्यम्—( ऊर्जं वहन्ती० ) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येकं जानीयुश्चाज्ञपेयुः—

( मे पितृन् ) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वे यूयं ( तर्पयत ) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति । तथा ( स्वधा स्थ ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—( ऊर्जं० ) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृदा अपः, ( अमृतं ) अमृतात्मकमनेरुविधं रसम्, ( घृतं ) आज्यम्, ( पयः ) दुग्धं, ( कीलालं ) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमक्षम्, ( परिस्रुतम् ) मांसिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितृन् प्रसन्नान् कुर्यात् ॥ १ ॥

ये ( सोम्यासः ) सोमगुणाः शान्ताः, सोमबल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः, ( अग्निप्यात्ताः ) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽचो गृहीतो यैस्तेऽग्निप्यात्ताः, तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निराचो गृहीतो यैस्ते ( पितरो ) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति । ( आयन्तु नः ) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वयं च तत्समीप्यं नित्यं गच्छेम । ( पथिमिर्दे० ) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युदयाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्तिवत्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेश, नित्यं सत्कुर्याम । ( अस्मिन्० ) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे ( स्रधया )

अमृतरूपया सेवया ( मन्दो० ) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधि-  
ब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( ऊर्ज्जं वह० ) । पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा दें कि—( तर्पयत मे० ) जो जो हमारे मान्य पिता पितामहादि, माता मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी ( ऊर्ज्जं = ) उत्तम उत्तम जल, ( अमृतं ) रोग नाश करनेवाले उत्तम अन्न, ( परिश्रुतं ) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो, कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें । क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे । ( स्वधास्थ० ) और ऐसा विनय सदा रखो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो । आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से वृष्ट हूजिये, और हम लोग जो जो पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन उन की आज्ञा किया कीजिये । हम लोग मन, बचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये । क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥

( आयन्तु नः० ) । 'पितृ' शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है । क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं । इसीलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करनेवाले हैं, उनको 'पितर' कहते हैं । उनके सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है, कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—आइये । बैठिये । कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये । पश्चात् जो जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो सो प्रीतिपूर्वक समझाइये, कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें ।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर । आपके अनुग्रह से ( सोम्यासः ) जो शीलस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग ( अग्निष्वात्ताः ) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग अलग करनेवाली विद्युत् रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में ( स्वधया मदन्तः ) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके ( अवन्त्वस्मान् ) हमारी सदा रक्षा करें । तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब जब वे आवें वा जावें, तब तब उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रखें । तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के

साय उसी में चले । ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्त्वव्यवहार रखते ( पथिभिर्देवयानं ) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान और दूसरा पितृयान । अतः जो विद्यामार्ग है वह देवयान, और जो कर्मोपासनामार्ग है वह पितृयान कहाता है । सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करने रहें ॥ २ ॥

अथ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।

अभीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत् ॥ ३ ॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वाय नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मुन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्रः पितरो वामः ॥ ४ ॥

आयत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥

य० अ० २ । म० ३१-३३ ॥

भाष्यम्—( अथ पितरो० ) हे पितरोऽग्रास्थां समायां पाठशालायां वाऽस्मान् निशानिज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत । ( यथाभागम् ) भजनीयं स्वं स्वं निशारूपं भागं ( आवृषायध्वं ) निद्रद्वत्स्वीकृत्य ( अभीमदन्त ) अस्मिन्सत्योपदेशे निद्यादानकर्मणि ह्येण सदोसाहन्तो भरत । ( यथाभागमा० ) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रमत्ताः सन्तो निचरत ॥ ३ ॥

( नमो वः० ) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसनिज्ञानानन्दग्रहणाय ( नमो वः पितरः० ) शोषायान्निशानुनिद्याप्राप्तये, ( नमो वः पितरो जी० ) जीवनाय निशान्निद्याप्राप्तये, ( नमो वः पितरः स्व० ) मोक्षनिशान्निद्याप्राप्तये, ( नमो वः० ) आपत्कालनिवारणाय, ( नमो वः० ) दुष्टानापरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, ( नमो वः पितरः० ) सर्वनिद्याप्राप्तये च शुष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु । ( गृहान्नः० ) हे पितरो ! गृहान् गृहम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं पूर्वं दत्त । ( सतो वः० ) हे पितरो ! येऽस्माकमविकारे निशमानाः पदार्थाः सन्ति, तान् वयं वो शुष्मभ्यं ( देष्म ) ददामो, यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य रीणा न मयेम । ( एतद्रः पितरः० ) हे पितरोऽस्माभिर्पद्मासो वस्त्रादिकं वस्तु शुष्मभ्यं दीयते एतद्वयं प्रीत्या गृहीत ॥ ४ ॥



( आधत्त पितरो० ) हे पितरो ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विशादानार्थं ( पुष्करस्रजं ) पुष्पमालाधारिणं ( कुमारं ) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । ( यथेह० ) येन प्रकारेणैहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिभवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( अत्र पितरो मा० ) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये । ( यथाभागमाहु० ) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हुईजिये । ( अभीमदन्त पितर ) आप यहां विद्या के प्रचार से सबको आनन्द-युक्त कीजिये । ( यथाभागमा० ) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर, अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥

( नमो वः० ) हे पितर लोगो ! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिये कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, औषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो । तथा ( नमो वः० ) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे औषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं । ( नमो वः० ) हे पितर लोगो ! आप की सत्यशिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें । इसलिये हम आप को नमस्कार करते हैं । ( नमो वः० ) हे विद्वान् लोगो ! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं । ( नमो वः० ) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काळ में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं । ( नमो वः० ) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर निश्च अप्रति करने की विद्या सोखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं । ( नमो वः० ) हम आप लोगों को बारंबार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो जो विद्या अवश्य हैं, सो सो सब आप लोग हम को दें । ( सतो वः० ) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं, इसलिये हम लोग आपको उत्तम उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिये । तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिये । और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥

( आधत्त पितरो० ) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये, कि जिस से वह विद्वान् हो के ( पुष्करस्र० ) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे । ( यथेह पुरुषोऽसत् ) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसे ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की आज्ञा

विद्वानों के प्रति है । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें ॥ ५ ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।

तेषां श्रीर्भयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥ ६ ॥

य० अ० १६ । म० ४६ ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो ह्वेषु ॥ ७ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नरंघ्रा अर्थबाणो भृगवः सोम्यासः ।

तेषां वयं सुमता यज्ञियानामपि भूदे सौमनुसे स्वाम ॥ ८ ॥

य० अ० १६ । म० ४६-४७ ॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।

तेषां लोकः सुधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ९ ॥

य० अ० १६ । म० ४८ ॥

भाष्यम्—( ये समानाः० ) । ये ( मामकाः ) मदीया आचार्यादयः, ( जीवाः ) विद्यमानजीवनाः, ( समनसः ) धर्मेश्वरसर्गमनुष्यहितकरणैरुनिष्ठाः, ( समानाः ) धर्मेश्वरसत्यप्रियादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्चमानाः, ( जीवेषु ) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यप्रियादानाय ब्रह्मादिदोषराहित्येन वर्चमाना निद्वानः सन्ति, ( तेषां० ) त्रिदुषां या श्रीः सत्यप्रियादिगुणाढ्या शोभास्ति, ( अस्मिँल्लोके शतं० ) सामयिकी लक्ष्मीः शतरूपपर्यन्तं, ( कल्पतां ) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्वाम ॥ ६ ॥

( उदीरतामवरे० ) ये पितरोऽपकृष्टगुणाः, ( उत्परासः ) उत्कृष्टगुणाः, ( उन्मध्यमाः ) मध्यस्थगुणाः, ( सोम्यासः ) सोम्यगुणाः, ( अष्टकाः ) अज्ञात-शत्रवः, ( ऋतज्ञाः० ) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, ( ह्वेषु ) देवग्राह्यग्रहणेषु, निश्चानदानेन ( नोऽवन्तु ) अस्मान् सदा रक्षन्तु । तथा ( असुं य ईयुः ) येऽसुं प्राणमीषुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां त्रिद्वान्मो भूत्वा प्रियमान-जीवनास्सुस्त एव सर्वैः सेवनीया, नैव मृताश्चेति । इतः ? तेषां देशान्तरप्राप्त्या सत्किरुपाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥

( अङ्गिरसो नः ) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणारूपस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः,

( नवग्वाः ) सर्वासु विद्यासूक्ष्मकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, ( अथर्वाणः ) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, ( भृगवः ) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, ( सोम्यासः ) शान्ताः सन्ति, ( तेषां वयं सुमतौ० ) वयं तेषां यज्ञियानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, ( भद्रे ) कल्याणकरे व्यवहारे, ( सौमनसे ) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, ( स्याम ) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेन ॥ ८ ॥

( ये समानाः ) ( समनसः ) अनयोरर्थ उक्तः, ये ( यमराज्ये ) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः ( पितरः ) विद्वांसः सन्ति, ( तेषां लोकः० ) यो न्याय-दर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, ( यज्ञो० ) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये ( कल्पतां ) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति, तेभ्यो ( नमः ) नमोऽस्तु । अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( ये समानाः० ) । जो आचार्य्य ( जीवाः ) जीते हुए, ( समनसः ) धर्म, ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत ( समानाः ) सत्यविद्यादि शुभ गुणों के प्रचार में ठीक ठीक विचार और ( जीवेषु ) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये झलकपटादिदोपरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं, ( तेषां० ) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्याविश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये ( अस्मिंल्लोके शतं समाः ) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्यन्त स्थिर रहें, जिस से हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥

( उदीरताम० ) जो विद्वान् लोग ( अवरे ) कनिष्ठ, ( उन्मध्यमाः ) मध्यम और ( उत्तरासः ) उत्तम, ( पितरः सोम्यासः ) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, ( अस्तु य ईयुः ) प्राणविद्यानिधान, ( अश्रुकाः ) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय, पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा ( ऋतज्ञाः ) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्मा, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जाननेवाले हैं, ( ते नोऽवन्तु पितरो हवेपु ) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥

( अङ्गिरसो नः ) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, ( नवग्वाः ) नवीन नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, ( अथ-र्वाणः ) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर, तथा दृष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, ( भृगवः ) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, ( सोम्यासः ) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, ( तेषां वयं सुमतौ० ) तथा यज्ञ के

जानने और करनेवाले पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, ( भद्रे ) कल्याण और ( सौमनसे ) मन की शुद्धि होती है, उसमें ( अपि स्थाम् ) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहें ॥ ८ ॥

( ये समा० ) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग ( यमराज्ये ) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में समासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और ( समनस पितर ) सब सृष्टि के हित करने में समानशुद्धि हैं, ( तेषां लोक रथा ) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सखी रहता है, ( नम ) उनको हम लोग नमस्कार करने हैं। क्योंकि ये पक्षपानरहित होके, सत्य व्यवस्था में चल के, अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। ( यजो देवेषु कल्पता ) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की वृत्ति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ॥ ९ ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासांऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।

तेभिर्पुमः संश्रराणो ह्योश्च्युश्रुशङ्गिः प्रतिक्रामन्तु ॥ १० ॥

वर्हिपदः पितर उत्पुषागिमा वां हव्या चक्रमा जुषधम् ।

त आ गुताममा शन्तमेनार्था नः शं योररपो दधात ॥ ११ ॥

आहं पितृन्सुविद्वद्ग्रां २॥ अविस्ति नपांतं च निक्क्रमणं च विष्णोः ।

वर्हिपदो ये रुधयां सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागामिष्ठाः ॥ १२ ॥

य० अ० १६ । म० ५१, ५५, ६६ ॥

भाष्यम्—( ये सोम्यासः ) सोमप्रियामम्यादिनः, ( वसिष्ठाः ) सर्वप्रिया-  
द्युत्तनगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, ( सोमपीथं ) सोमप्रियारक्षणं ( अनूहिरे ) पूर्व  
सर्वा प्रियाः पठिष्याऽध्याप्य तांस्तान् अनुप्रापयन्ति, ते ( नः पूर्वे पितरः ) येऽस्माकं  
पूर्वे पितरः सन्ति, ( तेभिः ) तैः ( उशङ्गिः ) परमेश्वरं धर्मं च काममानैः  
पितृभिः सह समागतेनैव ( संश्रराणः ) सत्यविद्यायाः सम्पददानकर्त्ता ( यमः )  
सत्यप्रियान्यरम्यास्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति । किं कुर्वन् ? ( हनी०पि० )  
विज्ञानादीन्पुशन् मर्त्यो दातुं कामयन् सन् । अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन्  
( प्रतिक्रामन्तु ) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु ॥ १० ॥

( वर्हिपदः ) ये वर्हिपि मर्त्योचमे ब्रह्मणि प्रियायां च निपण्णास्ते ( पितरः )  
विद्वांसः ( अरसा शन्तमेन ) अतिशयेन कन्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्चमानाः,

( आगत ) अस्माकं समीपमागच्छन्तु । आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे—हे विद्वांसः ! यूयमागत्य ( अर्वाक् ) पश्चात् ( इमा० ) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि ( जुषध्वं ) सम्प्रीत्या सेवध्वम् । हे पितरः ! वयं ( ऊत्या ) भवद्रक्षणेन ( वो ) युष्माकं सेवां ( चक्रुम ) नित्यं कुर्वाम । ( अथा नः स्त्रं० ) अथेति सेवा-प्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं संयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात । किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा ( अत्पः ) निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥

( आहं पितृन्सुविदत्राँ० ) ये बर्हिषदः ( स्वधया ) अन्नेन ( सुतस्य ) सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं ( भजन्ते ) सेवन्ते, ( पित्वः ) तत्पानं कृत्वा ( त इहाग० ) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु । य ईदृशाः पितरः सन्ति, तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तृ नहं ( आ अवित्ति ) आ समन्ताद्देहि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च । तान् विदित्वा सङ्गम्य च, ( विष्णोः ) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य ( विक्रमणं च ) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा ( नपातं च ) न विप्रते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षारूपं पदं च वेत्ति । यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते । तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

सापार्थ—( ये नः पूर्वं पितरः० ) जो कि हमारे पूर्व पितर, अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग ज्ञान्तात्मा, तथा ( अनूहिरे सोमर्षथं वसिष्ठाः ) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या से रमण करनेवाले हैं, ( तेभि-र्यमः सञ्च० ) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्याय-कारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है । हविः=जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और ( [ उशन् ] उशद्भिः प्रतिका० ) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले, तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है । हे मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से वृष्ट हो । इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ । स्त्रं० १६ निरुक्त में लिखा है—‘अङ्गिरसो नवगतयो’ इत्यादि वहां देख लेना ॥ १० ॥

( बर्हिषदः पि० ) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें । इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर दें । ( त आगतावसा० ) हे पितर लोगो ! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब-जब आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें, तब तब ( इमा [ वो ] हव्या० ) हम लोग उत्तम उत्तम पदार्थों से आप लोगों की

सेवा करे, और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें । ( अर्ग० ) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से, और आप लोग ( शत० ) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, ( अथा न शंयो ) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से ( अरप० ) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइये ॥ ११ ॥

( आह पितॄ० ) मैं जानता हूँ कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं । ( नपात च विव्रमण च विष्णोः ) जो मैं सध में व्यापक परमेश्वर का विव्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन, और नपान अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी ( आ अविस्सि ) ठीक ठीक जानता हूँ । ( बर्हिषदो ये ) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको देवयान कहते हैं । और जिसकी प्राप्ति से जैव पुनर्जन्म में कभी नहीं गिरता । तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है । उन दोनों मागों को भी मैं विद्वाना के ही सग से जानता हूँ । ( इन्द्र० ) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उस में आप भी ( पितॄ० ) आनन्दित होकर ससार में सत्र सुखों के देनेवाले होते हैं, वे सर्व हितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें, कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की वन्नति हुआ करे ॥ १२ ॥

उपहृताः पितरः सोम्यासौ बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।

त आ गमन्तु त इह श्रुन्त्यर्थि ब्रुवन्तु तेऽवन्तस्मान् ॥ १३ ॥

अग्निप्यात्ताः पितर एह गच्छतु सदैःसदः सदत सुप्रणीतयः ।

अत्ता हवीरपि प्रयतानि बर्हिष्यथा रुयिश्सर्ववीरं दधातन ॥ १४ ॥

ये अग्निप्यात्ता ये अर्नग्निप्यात्ता मध्ये दिवः स्रग्धया मादयन्ते ।

तेभ्यः सुराडसुभीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ १५ ॥

य० अ० १६ । म० ५७, ५६, ५० ॥

भाष्यम्—( सोम्यासः ) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते ( बर्हिष्येषु ) प्रकृष्टेषु ( निधिषु ) उत्तमस्तुस्थापनादेषु ( प्रियेषु ) प्रीत्युत्पादकेषु आमनेषु ( उपहृताः ) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु । ( त इह ) त इहागत्यास्मत्प्ररान् ( श्रुन्तु ) श्रृण्वन्तु । श्रुत्या तदुत्तराणि ( अविब्रुवन्तु ) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च ( तेऽवन्तस्मान् ) सदास्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥

( अग्निप्यात्ताः पितर एह गच्छत ) हे पूज्योक्ता अग्निप्यात्ताः पितरः ! अस्मत्सन्निर्यो प्रीत्या आगच्छत । आगत्य ( सुप्रणीतयः ) शोभना प्रकृष्टा नीति-

येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः ( सद्ःसद्ः सद्ः ) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत । ( अत्ता हवीं पि० ) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्पुत्तमानानि वा यूयं स्वीकुरुत । ( बर्हिष्यथा ) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सद्सि गृहे वा स्थित्वा ( रथि५ सर्ववीरं० ) सर्ववीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन । यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलपुक्तावीराः स्थिराः भवेयुः, सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥

( ये अग्निष्वात्ताः ) ये अग्निविद्यायुक्ताः, ( अनग्निष्वात्ताः ) ये वायुजल-भूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, ( मध्ये दिवः ) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये ( स्वधया ) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च ( मादयन्ते ) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, ( तेभ्यः ) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा ( असुनीतिमेतां ) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम । ( यथावशं ) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु । यतः ( स्वराट् ) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, ( तन्वं कल्पयाति ) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु । यतोऽस्माकं मध्ये ब्रह्मो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—( उपहूताः पितरः० ) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं, कि ये हमारे समीप आके ( बर्हिष्येषु० ) उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों, हमको उपदेश करें । ( त आगमन्तु ) जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि—आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, ( इह श्रुवन्तु ) यहाँ हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, ( अधिब्रुवन्तु० ) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥

( अग्निष्वात्ताः पितर एह० ) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो । आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये । फिर वे पितर कैसे होने चाहिये कि—( सुप्रणीतयः ) उत्तम उत्तम गुणयुक्त होके ( बर्हिषि० ) सभा के बीच में सत्य सत्य न्याय करनेवाले हों । तथा ( हवी० ) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करानेवाले हों । ( रथि५ सर्ववीरं दधातन ) विद्यादि जो उत्तम धन है, कि जिससे धीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें । ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश देश और घर घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥

( ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः ) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के

ज्ञाननेपाले, तथा ( मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते ) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, ( तेभ्य स्वरादसु० ) उनके हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह अमुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि ( यथाग्रज तन्व कल्पयाति ) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिये, कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराग्नसे सोमपीथं य आशुः ।

ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयस्स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १६ ॥

ये चेह पितरो ये च नेह योश्च विप्र यो २॥ उ च न प्रविप्र ।

त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधामिर्युतं सुकृतं जुपस्व ॥ १७ ॥

इद पितृभ्यो नमो अस्तुद्य ये पूर्वीसो य उ परास ईयुः ।

ये पार्थिवे रजस्था निपत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विधु ॥ १८ ॥

य० अ० १६ । य० ६१, ६७, ६८ ॥

भाष्यम्—( अग्निष्वात्ता० ) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविश्रवतोऽर्था- यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वा[त्ताः] पितरः सन्ति तान् ( हवामहे ) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेनयाहाह्वानं नित्यं कार्प्यम् । ( सोमपीथं य आशुः ) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च ( नाराग्नसे ) नरैः प्रवृत्तस्थेऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, ( ते नो विप्रासः ) ते विप्रा मेवाग्निनो, नोऽस्मान् ( सुहवा० ) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । ( सोमपीथं० ) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां वृष्टाः, एषां संगेन ( वयं स्याम पतयो० ) सत्यविद्याचक्रपरिचाराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥

( ये चेह पितरो० ) ये पितरो पिद्वाम इहास्मत्सन्निधौ वर्चन्ते, ये चेहास्म- त्समवे न सन्त्यर्थादेशान्तरे तिष्ठन्ति, ( याश्च विप्र ) यान् वयं जानीमः, ( यां २॥ उ च न० ) दृद्देशम्यित्या याश्च वयं न जानीमस्मान् सरान्, हे ( जातवेदः ) परमेश्वर ! ( त्वं वेत्थ ) त्वं यथागज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय । ( स्वधा० ) योऽस्मामिस्सुकृतः सम्पगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिन्नाधामिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुपस्व, सेवस्व । येनास्माक- मभ्युदयनिः श्रेयमकरं क्रियाकाण्डं सम्पक् सिध्येत् । ( यति ते ) ये यानन्तः परोक्षा निशमाना पिद्वोसः मन्ति, तान्स्मान्प्रापय ॥ १७ ॥



( इदं पितृभ्यः० ) ये पितरोऽब्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्तन्ते, ( पूर्वासः० ) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, ( ये पार्थिवे रजसि ) ये पृथिवी-सम्बन्धिभूगर्भविद्यायां ( आनिषत्ता ) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, ( ये वा नूनं सु० ) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासमाध्यक्षाः समासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादि-कर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् ( ईयुः ) प्राप्नुयुः । इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्यो-ऽस्माकमिदं सततं ( नमोऽस्तु ) ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( अग्निध्यात्तानृतुमतो० ) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्नि-विद्या और समयविद्या के जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे । ( नाराशं से सोमपीथं य आशुः ) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले हैं, उनसे हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनंदित हों । ( ते नो विप्राः सुहृवा० ) वे विद्वान् लोग हमको सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें ( वयं स्याम पतयो रयीणाम् ) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥

( ये चेह पितरो० ) हे जानवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, ( याँश्च विद्वा ) जिन को समीप होने से हम लोग जानते, और ( याँ २॥ उ च न प्रविद्या ) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, ( यति ते ) जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं, ( त्वं वेत्थ० ) उन सबको आप यथावत् जानते हैं, कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये ( स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं० ) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये, कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥ १७ ॥

( इदं पितृभ्यो न० ) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, ([ये] अथ पूर्वासो य उ परास ईयुः ) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं । अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं । तथा ( ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः ) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकोंके जाननेवाले हैं । तथा ( ये वा नूनं सु० ) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभी को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥ १८ ॥

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।

उशन्तुशत आ वह पितृन्हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ । मं० ७० ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः  
प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽती-  
तपन्त पितरः । पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यामः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः ।  
पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण  
शतायुषा विश्वमायुर्व्यर्शनै ॥ २१ ॥ य० अ० १६ । म० ३६, ३७ ॥

भाष्यम्—( उशन्तस्त्वा निधीमहि ) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना,  
इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः । ( उशन्तः  
समिधीमहि ) हे जगदीश्वर ! त्वां शृण्वन्तः आश्रयन्तः सम्पक् प्रकाशयेमहि ।  
कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—( हविषे अत्तवे ) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तम-  
पदार्थदानायानन्दभोगाय च । ( उशन्नुशत आवह पितृन् ) सत्योपदेशविद्या-  
कामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १९ ॥

( पितृभ्यः० ) स्वां स्वकीयाममृतारूपां मोक्षविद्यां कर्तुं शीलं येषां, तेभ्यो  
वसुमंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्च, ( स्वधा० ) अन्नाद्युत्तमवस्तु दत्तः ।  
ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुमंज्ञकाः ।  
( पितामहेभ्यः० ) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति  
ते पितामहाः, ( प्रपितामहेभ्यः० ) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारा-  
वारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याश्रोतकाः । ( नमः )  
तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु । ( अक्षन् पितरः० ) हे पितरो ! भवन्तोऽक्षन्नैव  
भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । 'अमीमदन्त पितरः' इति पूर्वं व्याख्यातम् । ( अती-  
तपन्त पितरः ) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत । ( पितरः शुन्धध्वम् )  
हे पितरो यूपमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥

( पुनन्तु मा पितरः ) ओ पितरः ! पितामहाः ! प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां  
मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु । केन पुनन्त्व-  
त्याह—( पवित्रेण ) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, ( शतायुषा ) शतवर्षपर्यन्त-  
जीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम् ।  
येनाहं ( विश्वमायुर्व्यर्शनै ) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र 'पुरुषो वाव यज्ञः'

[ प्र० ३। सं० १६। ] इत्याकारकेण ज्ञान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्य-  
संज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

**भाषार्थ—**( उशन्तस्त्वा निधीमहि ) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित, और ( उशन्तः समिधीमहि ) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें । ( उशन्नुशन्त आवह पितृन् ) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये, कि ( हविषे अत्तवे ) हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहें ॥ १६ ॥

( पितृभ्यः स्वधा० ) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़ के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है । ( पितामहेभ्यः० ) जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देनेवाले होते हैं, ( प्रपितामहेभ्यः० ) जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के, हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखाते, और जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका नाम भी सब लोगों को करना उचित है ।

पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं । ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं । इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते । इसमें पुरुषो वाच यज्ञः० यह ज्ञान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख लेना ।

( अक्षन् पितरः ) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो । तथा ( अमीमदन्त पितरः ) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो । ( अतीवृषन्त पितरः ) हमारी सेवा से वृष होकर हमको भी आनन्दित और वृष करते रहो । तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें, तो आप लोग हमको शिक्षा करो । ( पितरः शुन्धध्वम् ) हे पितर लोगो ! आप हमको धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें, कि जिससे हम लोग आपके साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें ॥ २० ॥

( पुनन्तु मा पितरः० ) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें । ( पुनन्तु मा पितामहाः० ) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें । इसलिये कि उन की शिक्षा को सुन के ब्रह्मचर्य धारण करने से सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहै । इस मन्त्र में दो बार पाठ केवल आदर के लिये है ॥ २१ ॥

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभी का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहाँ कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहाँ भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके, तो महीने महीने अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है, उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

इति पितृयज्ञः समाप्तः ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृहोऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्त्रहम् ॥ १ ॥

मनुस्मृती अ० ३ । श्लोकः ५४ ॥

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमिच्छे हरन्तोऽश्वापेव तिष्ठते घ्रासमग्ने ।

रायस्पोषेण समिपा मदन्तो मा ते अग्रे प्रतिवेशा रिपाम ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ । अनु० ७ । म० ७ ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातभेदः पुनीहि मां स्राहा ॥ २ ॥

य० अ० १९ । म० ३६ ॥

भाष्यम्—( अग्ने ) हे परमेश्वर ! ( ते ) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं ( इत् ) एव ( तिष्ठतेऽश्वाय घामं ) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, ( इव ) तथैव ( अहरहः ) नित्यं प्रति ( बलिं हरन्तः ) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, ( समिपा ) सम्प्राप्यते या सा समिद् तथा श्रद्धया, ( रायस्पोषेण ) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्म्या ( मदन्तः ) हर्षन्तो वयं, ( अग्ने ) हे परमात्मन् ! ( ते ) तव ( प्रतिवेशाः ) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान्प्राणिनः ( मा रिपाम ) मा पीडयेम । किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु । सर्वेषां च वयं सखायः स्म, इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्याम ॥ १ ॥

( पुनन्तु मा० ) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः ॥ [ २ ] ॥

१—स्वाहेति पद मन्त्रे नास्ति ॥ सं० ॥

**भाषार्थ—**( अग्ने० ) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, ( अहरहः० ) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को ( बलि० ) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके ( अग्ने ) हे परमात्मा ! ( प्रतिवेशः ) आपकी आज्ञा से उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को ( मा रिषाम ) अन्याय से दुःख कभी न दें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥

( पुनन्तु मा० ) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्रये स्वाहा ॥ [ १ ] ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ [ २ ] ॥  
ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ [ ३ ] ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ [ ४ ] ॥  
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ [ ५ ] ॥ ओं कुहूँ स्वाहा ॥ [ ६ ] ॥  
ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ [ ७ ] ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ [ ८ ] ॥  
ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ [ ९ ] ॥ ओं स्वष्टकृते स्वाहा ॥ [ १० ] ॥

**भाष्यम्—**( ओम० ) अग्न्यर्थ उक्तः । ( ओं सो० ) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः । ( ओमग्नी० ) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः । ( ओं वि० ) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा । ( ओं ध० ) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । ( ओं कु० ) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, अमावास्याष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा । ( ओम० ) पौर्णमास्याष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै । ( ओं प्र० ) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । ( ओं सह० ) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः । ( ओं स्वष्ट० ) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥ [ १-१० ] ॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्यात्—

**भाषार्थ—**( ओम० ) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं । ( ओं सो० ) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट, करने और सुख देनेवाला । ( ओम० ) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान । ( ओं वि० ) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग । ( ओं ध० ) जन्ममरणदि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा । ( ओं कु० ) अमावास्याष्टि का करना । ( ओम० ) पौर्णमास्याष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति । ( ओं प्र० ) सब जगत्

का रामो जगदीश्वर । ( ओं स० ) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का प्रदण । ( ओं स्वि० ) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर । इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना ।

अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं त्रिषै नमः ॥ ८ ॥

ओं भद्रकान्धे नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥

ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥

ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥

ओं सर्वान्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधापितृभ्यः स्वधानमः ॥ १६ ॥

—इति नित्यथादम् ।

भाष्यम्—( ओं सा० ) 'णम प्रहृत्वे शब्दे' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्कार-विचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यमानीश्वरोऽत्र गृह्यते ॥

( ओं सानु० ) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः ।

( ओं मा० ) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः ॥

( ओं सानुगा० ) अन्वयार्थ उक्तः ॥

( ओं म० ) य ईश्वराधारेण सकलं त्रिश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते महतः ॥

( ओम० ) अन्वयार्थः 'शब्दो देवी' इत्यत्रोक्तः ॥

( ओं वन० ) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो वायुमेवादयः पदार्था अत्र प्राणाः । यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् ॥

( ओं त्रि० ) त्रयीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्ता श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च ॥

( ओं भ० ) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः ॥

( ओं ब्र० ) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः ॥

( ओं वास्तु० ) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्तवाकाशं, तत्पतिरीश्वरः ॥

( ओं वि० ) अस्यार्थ उक्तः ॥

( ओं दिवा० ), ( ओं नक्त० ) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थो-  
यमारम्भः ॥

( ओं स० ) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः ॥

( ओं पि० ) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः  
परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चरम्भः ॥ [ १-१६ ] ॥

भाषार्थ—( ओं सातु० ) सर्वेश्वर्यथुक्त परमेश्वर और उसके गुण । ( ओं सा० ) सत्य न्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद् । ( ओं सा० ) सब से उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन । ( ओं सा० ) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग । ( ओं मस्तु० ) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना । ( ओमब्भ्यो० ) इसका अर्थ 'शन्नोदेवी' इस मन्त्र में लिख दिया है ।

( ओं व० ) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी । ( ओं श्रि० ) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना । ( ओं भ० ) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना । ( ओं ब्र० ) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना । ( ओं वा० ) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर । ( ओं ब्रह्म० ) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर । ( ओं वि० ) इसका अर्थ कह दिया है ।

( ओं दि० ) जो दिन में, और ( ओं नक्त० ) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना । ( सर्वात्म० ) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना । ( ओं पि० ) माता पिता और आचार्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चान् स्वयं भोजनादि करना । 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है, और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि—आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना ॥ [ १-१६ ] ॥

इम के पीछे ये छः भाग करना चाहिये—

शुनां च पतितानां च स्वपचां' पापरोगिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्धपेद् भुवि ॥ [ मनु० ३ । १२ ]

अनेन यह भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भाष्यार्थ—कुत्तों, कंगालों, कुष्टी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चीटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग अलग बांट के देदेना, और उनकी प्रसन्नता करना । अर्थात् सत्र प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये । यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिबैश्वदेव पूरा हुआ ।

—इति बलिबैश्वदेवविधि समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादि-नरद्वेषादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

स्वयमेनमभ्यर्चयेत् ब्रूयाद् ब्राह्म्यं ब्रूवाद्वात्सीर्ब्राह्म्योदकं ब्राह्म्यं तर्पयन्तु ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते वशस्तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते निक्रामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

अथर्व० का० १५ । अनु० २ । व० ११ । म० १, २ ॥

भाष्यम्—( तद्य० ) यः पूर्वोक्तविशेषणपुक्तो विद्वान् ( ब्राह्म्यः० ) महोत्तम-गुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किंतु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ॥ १ ॥

स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् ( स्वयमेनम० ) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निपादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत्—( ब्राह्म्यं ब्रूवात्सीः ) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवातं



कृतवान् । ( ब्राह्मोदकं ) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण ( ब्राह्म्य तर्पयन्तु ) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्ति, तथाऽस्मदीया भवन्तं च ( ब्राह्म्य यथा० ) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु ( ब्राह्म्य यथा ते ) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम । ( ब्राह्म्य यथा ते ) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥ [ २ ] ॥

[ इत्यतिथियज्ञः समाप्तः ]

[ इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः ]

भाषार्थ—अब पाँचवाँ अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अधिद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं—

( तद्यस्यैवं विद्वान् ) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त ( ब्राह्म्य० ) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करें। और 'अतिथि' वह कहाता है कि जिसके आने जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥ १ ॥

( स्वयमेनम० ) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से बैठ के नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठायें। पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जायें, तब पूछें कि ( ब्राह्म्य क्वावात्सीः ) हे ब्राह्म्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहां वास किया था ? ( ब्राह्मोदकं ) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और ( ब्राह्म्य तर्पयन्तु ) हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये, कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रखें। ( ब्राह्म्य यथा० ) हे विद्वन् ! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये। और ( ब्राह्म्य यथा० ) जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

[ इत्यतिथियज्ञः समाप्तः ]

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः

# अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः



सृष्टिमात्रभ्याप्रप्यन्तं येषां येषां स्वतः परतः प्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपात-  
रहितैरागद्वेषशून्यैः मत्प्रधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरायैर्मिदं द्विष्यथाङ्गीकारः  
कृतस्तथाऽप्योच्यते—

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति, ये जीरोक्तास्ते  
परतः प्रमाणाहोश्च । ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम् । कृतः ? तदुक्तौ भ्रमादि  
दोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यात्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तत्र वेदेषु  
वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं, सूर्यप्रदीपवत् । यथा सूर्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव  
प्रकाशितौ सन्तौ सर्वसूर्यद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः  
मन्तः सर्वानन्यविग्रहग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदनिरोधिनो वर्तन्ते, नैव  
तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्तुं योग्यमस्ति । वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो निरोधा-  
दप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतः प्रामाण्यात्तद्विज्ञानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च ।

ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रगागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्विज्ञास्तद्व्याख्या-  
नभूता त्रिकाक्षग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमहन्ति । तथैवैकादशशतानि  
सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमहन्ति ।  
एतेन यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि ।  
तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या,  
अथर्ववेदश्च शिल्पशास्त्रं चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्रुतनिघण्टूनादय  
आयुर्वेद ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परं तु तस्य सर्वविद्या  
क्रियारपर्वः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति । अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता  
धनुर्वेदग्रन्था नह्य आसन्निति । गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिभिः । अथर्ववेदश्च  
विश्वकर्मसंस्कृत [ देवज्ञ ] मयकृतश्च नमृमहिताख्यो ग्राह्यः ।

भाषार्थ—जो जो ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेकर आज तक पक्षपात और  
रागद्वेषरहित सत्यधर्मपुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने 'स्वतः  
प्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परतः प्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से  
प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं—

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो  
चारा मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं । परन्तु उनसे भिन्न भी

जो जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उसका कथन ही निष्प्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्या [ युक्त ] और सबशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके, सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं, वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रामाण्ययुक्त हैं।

इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है, वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारहसौ सत्तार्दस ( ११२७ ) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण।

तथा ( आयुर्वेदः ) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है। ( धनुर्वेदः ) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है। परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहै तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। ( गान्धर्ववेदः ) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। ( अथर्ववेदः ) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायीमहामाध्यधातुपाठोष्णादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्युप्युक्तं रेखावीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति।

तथा षड्पाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिन्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं श्राह्मम्। द्वितीयं

विशेषतया धर्मधर्मविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिक-  
शास्त्रम् । तृतीयं पदार्थविधाविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्याय-  
शास्त्रम् । चतुर्थं यत्त्रिमिमीमांसवैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेना-  
नुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यास-  
मुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् । तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणन-  
विवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम् । षष्ठं बौद्धायनवृ-  
त्त्यादिन्यायानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डक-  
माण्डूक्यनैचिरीयैतरेयब्रह्मसूत्रहृदारण्यका दशोपनिषदश्रोपाङ्गानि च ब्राह्मणानि ।

एवं चत्वारो वेदाः सशास्त्रा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदाः, षट् वेदाङ्गानि,  
षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविधा मनुष्यैर्ग्राह्या  
भवन्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार मन्त्रादिकृत सान्त्वकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत  
श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ, और पतञ्जलि-  
मुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, घसिष्ठ-  
मुनि आदि कृत उपोतिष सूर्यसिद्धान्त आदि, और ( छन्दः ) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्य  
आदि ये वेदों के छ. अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य ।

और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है—उनमें से एक  
व्यासमुनि आदि कृत भाष्य सहित लैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का  
विधान और धर्मधर्म दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है । दूसरा—वैशेषिक  
शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित ।  
तीसरा—न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित ।  
चौथा—योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्यसहित । पाँचवां  
सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्यसहित । और छठा—  
वेदान्तशास्त्र जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ब्रह्मसूत्र  
और हृदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायनवृत्त्यादि-  
व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं ।

इसका यह अभिप्राय है कि जो शास्त्रा शास्त्रान्तर व्याख्यासहित चार वेद, चार  
उपवेद, छः अङ्ग और उपाङ्ग हैं, ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं ।

एतामां पठनाद्यर्थं विदितत्वान्मानसवाक्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाय  
महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईशरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणा-

दयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविधायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवैतेभ्यो सिद्धाः, पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्या इति ।

ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते—रुद्रायामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणान्युपपुराणानि च । प्रक्षिप्तश्लोकन्यागाद्या मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णय-सिन्धवादयो ग्रन्थाः । वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीशयन्ता न्यायाभासा ग्रन्थाः । योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्र-विरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोग-वासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्र-फलदेशविधायका ग्रन्थाः ।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्ष-एकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रे—  
णैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाखण्डि-सम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च ।  
ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ।

भाषार्थ—इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना, सुनना और पढ़ना सब को उचित है । इनसे भिन्नों का नहीं । क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रक्षुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं, उन को स्वीकार करना योग्य नहीं ।

आगे उन में से मुख्य मुख्य मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रायामल आदि तन्त्रग्रन्थ । ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण । सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण । मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ । व्याकरणविरुद्ध सारस्वत-चन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ । धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि । तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र-विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ । हठदीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं । तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ । वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ । ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्म-पत्रफलदेशविधायक पुस्तक ।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र । तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादित्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रा माहात्म्यविधायक पुस्तक,

तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्तिपूजा करने में मुक्तिविधायक ग्रन्थ । इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ । तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश, ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं । इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं ।

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किं चित्सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विपयुक्तान्नवत् ?

उ०—यथा परीक्षका विपयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति, तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव । कुतः ? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यमृतपार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानालुप्तचेरचेति ।

अयं तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते—तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति । तेषां मतं यत्रैवे श्लोकाः सन्ति—

मयं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।

एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे ॥ १ ॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।

पुनरुत्थाय पुं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ ॥

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।

निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ।

लिङ्गं योन्यां तु मंस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥ ४ ॥

मातरमपि न त्यजेत् ॥ [ ५ ] ॥

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्धयधर्माश्रयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादि-  
भ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्पणश्रीलमुक्तं तच्चिद्विष्टं कदापि ग्राह्यमिति । मद्यादिसेवनेन  
बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत्सुगमं  
प्रमिद्वं च ।

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणमंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता  
बहुयः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते । तत्रैवमेका  
कथा लिखिता—

‘प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां मत्स्वर्गां दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति ।’  
सा मिथ्यैवास्ति । कुतः ? अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात् । तद्यथा—

**भाषार्थ—**कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो जो सत्य बात हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे अमृत तुल्य अंज में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, क्योंकि उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप होजाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये। क्योंकि बिना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, बिना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं।

अब आगे इन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् पृथक् दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

( मद्यं मांसं० ) मद्य पीना, मांस मच्छी-खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना। इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥

( पीत्वा पीत्वाः० ) किसी मकान के चार आल्यों में मद्य के पात्र धर के, एक कोने से खड़े खड़े मद्य पीने का आरंभ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहां तक कि जब पर्यन्त पीते पीते बेहोश हो कर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े, तब तक बराबर पीते ही चले जाना। इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ उठ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

( प्रवृत्ते भैरवीचक्रे० ) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं। फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहां तक कि जब तक उन्मत्त न होजाय तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग अलग वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥

( मातृयोनिं० ) उनके किसी किसी श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं। और ( मातरमपि न त्यजेत् ) किसी किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना। तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मंत्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥ ४- [५] ॥

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मर्यादा सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको ज्वीन कहना उचित है।

अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहाँ भी लिखते हैं—

प्रजापतिर्न स्यां दुहितरमभ्यध्यायदिवमित्यन्य आहुरूपमित्यन्ये । तामृग्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् । तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्यो-  
ऽभवत् ॥ १ ॥ ऐ० प० ३ । कण्ड० ३३, ३४ ॥

प्रजापतिर्न सुपर्णो गस्मानेप सविता ॥ २ ॥

वा० को० १० । अ० २ । श्लो० २ । क० ४ ॥

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥ ३ ॥

नि० अ० ४ । प० २१ ॥

घौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र चन्धुर्मे माता पृथिवी ग्रहीयम् ।

उत्तानयोश्चमोऽयोनिरन्तरां पिता दुहितुर्गर्भाधात् ॥ १ ॥

क० म० १ । सू० १९४ । म० ३३ ॥

शासुद्वर्हिदुहितुर्नृप्यङ्गाद्विद्वौ रुतस्य दीर्घिति सपर्यन्त् ।

पिता यत्र दुहितुः सेरुमृज्जन्तसं शुग्म्येन् मनसा दधुन्वे ॥ २ ॥

अ० म० ३ । सू० ३१ । म० १ ॥

भाष्यम्—सपिता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति । तस्य दुहिता कन्यासु धौरुपा चास्ति । यस्मादुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः । सा च पिता तां रोहितां विश्विद्रक्तगुणप्राप्तां स्यां दुहितरं किरणै-  
श्च सूर्यवन्दीघमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजन-  
दुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृसूर्यश्च । कुतः ? तस्यामुपसि दुहितरि  
किरणरूपेण वीर्येण सूर्यादिवमस्य पुत्रस्योत्पत्तत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः  
पञ्चवटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योपा इति संज्ञा ।



तयोः पितादुहितोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् ।

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् । कुतः ? पर्जन्यादद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य-वज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति । तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः ॥ [ १-३ ] ॥

अत्र वेदप्रमाणम्—

( धर्मो पिता० ) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, ( जनिता ) सर्वव्यव-हाराणामुत्पादकः । अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री । द्वयोश्चम्बोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः । अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ सामन्ताद्वारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥

( शासद्वह्नि० ) अयमपि मन्त्रोऽस्पृशालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति । वह्नि-शब्देन सूर्यो, दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव । स पिता, स्वस्या उपसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा, दिवसपुत्रमजनयदिति ॥ २ ॥

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां, निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ—नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी—( प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम० ) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा । क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही संतान कहाता है । इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है । उन में से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्यस्थापन के समान है । उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है ॥

‘प्रजापति’ और ‘सविता’ ये शतपथ में सूर्य के नाम हैं ॥

तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है । क्योंकि

पृथिवी की उत्पत्ति जल से हो है। जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप त्रीर्य को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ [१-३] ॥

इस 'कन्या' का मूल ऋग्वेद है कि—

( शौमं पिता० ) शौ जो सूर्य का प्रकाश है, सो सब सूर्यों का हेतु होने से मेरे पिता के समान, और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। ( उत्तान० ) जैसे उपर नीचे वरुण की दो चांदनी तान देते हैं, अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य, और नीचे के धिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हो इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान भेद्य है। वह अपने विन्दुरूप वीर्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने में ओषध्यादि अनेक संतान उत्पन्न करता है, कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥

( शासद्वहि० ) सब का बहान अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपमालङ्कार कथाओं का उपदेश दिया है। तथा वही ( ऋतस्य० ) जल का धारण करनेवाला, ( नप्यद्वा० ) जगत् में पुत्रपौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। ( पिता यत्र दुहितुः० ) जिस सुररूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, इसी प्रकार यहां भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से घिगाड़ के लिख दिया है। तथा ऐसी ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न मूलें।

तथा च—'कथिदेहधारीन्द्रो देवराज आसीत् । स गोतमस्त्रिर्या जारकर्म कृतवान् । तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति । तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पापाणशिला भवेति । तस्या रामपादरजः स्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति ।'

तत्रेदश्यो मिथ्यैः कथाः सन्ति । कुतः ? आसामप्यलङ्कारार्थत्वाद् । तद्यथा—  
इन्द्रागच्छेति । ... गौरावस्कन्दिब्रह्मण्यै जारेति । तद्यान्वेवास्य चरणानि  
तरेवैनमेतत्त्रमुमोदयिषति ॥ [ १ ] ॥

प० वा० ३ । अ० ३ । ब्रा० ४ । क० १८ ॥

रेतः सोमः ॥ [ २ ] ॥ प० वा० ३ । अ० ३ । ब्रा० २ । क० १ ॥

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥ [ ३ ] ॥ निरु० अ० १२ । खं० ११ ॥

सूर्यैरग्निश्चन्द्रमा गन्धर्व [ यजुः १८ । ४० ] इत्यपि निगमो भवति ।

सोऽपि गौरुच्यते ॥ [ ४ ] ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥

जार आ भर्गः' [ ऋ० १० । ११ । ६ ] जार इव भगम् । आदित्योऽत्र

जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता ॥ [ ५ ] ॥ निरु० अ० ३ । खं० १६ ॥

एष एवेन्द्रो य एष तपति ॥ [ ६ ] ॥

श० कां० १ । अ० ६ । वा० ४ । कं० १८ ॥

भाष्यम्—इन्द्रः सूर्यो, य एष तपति, भूमिस्थान्यदार्थाश्च प्रकाशयति । अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्यप्राप्तेर्हेतुत्वात् । स अहल्याया जारोऽस्ति । सा सोमस्य स्त्री । तस्य गोतम इति नाम । गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति 'गोतम'श्चन्द्रः । तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति । रात्रिरहल्या । कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रि'रहल्यो'च्यते । स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रिया-ऽहल्यया सुखयति ।

अत्र स सूर्य इन्द्रो, रात्रेरहल्याया, गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते । कुतः ? अयं रात्रेर्जरयिता । 'जृप् वयोहाना'विति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति । रात्रे-रायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम् ॥ [ १-६ ] ॥

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सञ्ज्ञास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृशयोऽन्याश्चापि ।

भाषार्थ—अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है, कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है । सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि—

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था । वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था । एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि—हे इन्द्र ! तू हजार भगवाला होजा । तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप होजा । परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि 'तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायँ, और अहल्या को वचन दिया कि जिस

समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजायेगी ।

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है । सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है । तथ्या—

( इन्द्रागन्धेति० ) अर्थात् उन में इस रीति से है कि—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है । यहा रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपफलद्वार है । चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सय प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है । अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है । और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्तमान रूप शृगार को बिगाड़नेवाला है । इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपफलद्वार बाधा है, कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ साथ रहते हैं । चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि यह अत्यन्त योग से चलता है । और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते हैं कि उसमें दिन छय होजाता है । तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिये वह उसका 'जार' कहाता है ।

इस उत्तम रूपफलद्वारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सय मनुष्यों में हानिकारक फल घर दिया है । इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें ।

'एवमेवेन्द्रः कश्चिदेहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन घृतासुरेण सह युद्धमभूत् । घृतासुरेणैन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत् । ते त्रिष्णुशरणं गताः । त्रिष्णुरुपायं वर्णितयान्—मया प्रमिष्टेन ममुद्रफेनेनायं हतो ममिष्यतीति ।'

इदं यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भट्टैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम् । कुतः ? एतामामप्यलङ्कारवचनात् । तथा—

इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्र वीचं यानि चकार प्रथमानि वृज्जी ।

अद्वयहिमन्त्रपस्तर्दं प्र वृध्णो अभिनुरपर्वतानाम् ॥ १ ॥

अद्वयहिं पर्वते त्रिधियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्ग्यं ततश्च ।

वायु इव धेनवः स्यन्दमाना अज्जः समुद्रमरं जग्मुरापः ॥ २ ॥

श्रु० म० १ । अ० ३२ । अ० १, २ ॥

भाष्यम्—( इन्द्रम्य० ) सूर्यस्य परमेधरस्य वा तानि वीर्याणि परा-  
ग्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्व, तु इति पितृके, वज्री चकार ।  
वज्री वज्रः प्रशान्तः प्राणो रास्यास्तीति । 'वीर्यं वै वज्रः' ॥

श्रु० वा० ७ । अ० ३ । [ वा० १ । क० १६ ] ॥

स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्दं विस्तारितवान् । ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्दं जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति । कीदृश्यस्ता नद्यः ? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पन्नमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्विसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥ १ ॥

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—[ ( अह० ) ] । ( त्वष्टा ) सूर्यः ( अहन्नहिं ) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्यत्राह --( अस्मै ) अहये वृत्रासुराय मेघाय ( पर्वते शिश्रियाणम् ) मेघे श्रितम् ( स्वर्ग्यम् ) प्रकाशमयम् ( वज्रम् ) स्वकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति । येन वृत्रासुरं मेघं ( ततश्च ) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं ( अवजग्मुः ) गच्छन्ति । कथम्भूता आपः ? ( अज्रः ) व्यक्ताः ( स्यन्दमानाः ) चलन्त्यः । का इव ? बाभ्रा वत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है । इस को भी पुराणवालों ने ऐसा घर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है । देखो कि—

‘त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि—मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा । तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा ।’

यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या हैं । श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें । देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

( इन्द्रस्य तु० ) यहां सूर्य का इन्द्र नाम है । उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो कि परमेश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है । वह अपनी किरणों से ‘वृत्र’ अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है । फिर उससे अनेक बड़ी बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं । कैसी वे नदी हैं कि ‘पर्वत’ अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही वहने के लिये होती हैं । जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥

[ ( अ० ) ] फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके 'पर्वत' अर्थात् मेघ मण्डल का पुन आश्रय लेता है । जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है । जैसे कोई लम्बी को छील के सूख कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है, और उसके शरीररूप जल सिमट सिमट कर नदिया के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं, कि जैसे अपने बल्लदों को गाय दौड़ के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन्तृं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।

स्कन्धांसीष कुलिशेना विवृक्णाहिं शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥ १ ॥

ज्वातदहस्तो अपृतन्यदिन्द्र मास्य वज्रमधि मानौ जघान ।

वृष्णो यत्रिः प्रतिमानं धुभूपन्युरुग्रा वृत्रो अशयद्वयस्तः ॥ ४ ॥

ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । म० [ १, ७ ] ॥

भाष्यम्—अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निष० अ० १ । ख० १० ॥

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्क्रो वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ॥ वृत्रं जग्निवानपवजार । तद्वृत्रो वृणोतेर्मा, वर्ततेर्मा, वर्धतेर्वा । यद्वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निष० अ० २ । ख० [ १६ ], १७ ॥

( इन्द्रः ) सूर्यः ( वज्रेण ) विद्युत्किरणारयेन ( महता व० ) तीक्ष्णतरेण ( वृत्रम् ) मेघम् ( वृत्रतरम् ) अत्यन्तलवन्तम् ( व्यंसम् ) क्षिन्नस्कन्धं छेदिधनजाल यथा स्यात्तथा ( अहन् ) हनयान् । स ( अहिः ) मेघः ( कुलिशेन ) वज्रेण ( विवृक्णा० ) क्षिन्नानि स्कन्धांसीष ( पृथिव्या उपपृक् ) यथा कस्यचिन्मनुष्यादंशमिना क्षिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि ( अगयत ) 'छन्दमि लुङ्लङ्लिट्' इति सामान्यकाले लङ् ।

[ ( अपाद० ) ] पृथिव्यां शयान इन्द्रेण सूर्येणापादहस्तो व्यस्तो मित्राह्वरुतो वृत्रो मेघो भूमानशयत् शयनं करोतीति ।

निघण्टो० अ० १ । ख० १०—'वृत्र इति मेघस्य नाम' । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः ?

सूर्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुन-  
र्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्यो हत्वा  
भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति, नदीगच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं  
कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्यो जघ्निवानपववार  
निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं  
तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्त्तमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ॥ [ ३—४ ] ॥

भाषार्थ—[ ( अह० ) ] जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके  
पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट काट  
कर गिराता है, तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन  
करनेवाला होजाता है ।

‘निघण्टु’ में मेघ का नाम वृत्र है । ‘इन्द्रशत्रु०’—वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक  
सूर्य है, सूर्य का नाम त्वष्टा है, उसका संतान मेघ है, क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा  
जल कण कण होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप होजाता है । तथा मेघ का  
वृत्र नाम इसलिये है कि वृत्रो वृणोतेः०—वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का  
आवरण करने वाला है ॥ [ ३—४ ] ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठाणां मध्ये निहितं शरीरम् ।

वृत्रस्य निष्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम् आश्रयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां भिद्रमकिरव्धादुनि च ।

इन्द्रश्च यद्युधाते अहिंश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ६ ॥

ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १०, १३ ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

भाष्यम्—वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिष्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी  
स यदिदं सर्वं वृत्वा शिष्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः  
पूतिः सर्वत एवाऽपोभिः[प्र]सृताव । सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्माद् हैका आपो  
वीभत्साञ्चक्रिरे । ता उपर्युपर्यतिपुपुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता

१—‘वृन् आच्छादने’ घातु से ‘वृत्र’ प्रत्यय तथा ‘वृत्तु वर्तमाने’ और ‘वृधु वृद्धो’ घातु से  
‘रक्’ प्रत्यय होने से ‘वृत्र’ शब्द सिद्ध होता है ॥ सं० ॥

आपोऽस्ति वाऽइतरासु म२ सृष्टिभिः, यदेना वृत्रः पृथिवीमित्रास्तत्तदेनाममेताभ्यां  
पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेघ्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनति ॥

श० वा० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४, ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो  
वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७ । प० ५ ॥

( अतिष्ठन्तीनाम्० ) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्नरन्ति । अतएवेन्द्र-  
शत्रुर्वृत्रो मेघो भूमाग्रशयत्, आ समन्ताच्छेत्ते ।

( नास्मै विद्युत्० ) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्ययिन्द्राय  
न सिपेध निपेद्युं न शक्नोति । अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते ।  
यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्यस्य तापरूपसेना वर्धते  
तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघना इन्द्रः सूर्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान्  
भरति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भरति न मेघस्येति ।

‘वृत्रो ह वा इति’०—स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्राऽऽवृत्य शिश्ये शयनं  
करोति, तस्माद् वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान हतवान् । स हतः सन्  
पृथिवीं प्राप्य सरतः काष्ठवृणादिभिः संयुक्तः पृतिर्दुर्गन्धो भरति । स पुराकाशस्थो  
भूत्वा मरुतोऽपोऽभिसुखाव, तासां वर्षणं करोति । अपं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य  
तत्रापि भयङ्करो भरति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भरन्ति । इत्थं पुनः  
पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीमता आपः सूर्यद्वारेणोपप्लुप्यन्तरिक्षं पुन्रविरे  
गच्छन्ति, ततोऽभिरर्पन्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भाद्यौषधिममूहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ  
सूर्यपवनान्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः ॥ ५—६ ॥

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादि-  
नारीनग्रन्थेषु पुगणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः गिष्टैः कदाचिन्नैराङ्गी-  
कर्त्तव्या इति ।

भाषार्थ—( अतिष्ठन्तीनाम्० ) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी बड़ी नदिया  
उत्पन्न हो क अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं, और जितना जल बलाय वा कूप आदि  
में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ।

( नास्मै० ) अथत् वह वृत्र अपने विजली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र  
को कभी नहीं जीत सकता । इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों



परस्पर युद्ध के समान करते हैं, अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है।

‘वृत्रो ह वा’—जब जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब तब उस को सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, कृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार बारम्बार मेघ वर्षता रहता है। ‘उपयुप्यति०’ अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ उड़ कर आकाश में बढ़ता है। वहां इकट्ठा होकर फिर फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को ‘वृत्रासुर’ के नाम से बोलते हैं।

वायु और सूर्य का नाम ‘इन्द्र’ है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य प्रकाशस्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है ॥ ५-६ ॥

इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरो के समान अल्प-बुद्धिवाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति । ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः ? तासामप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा—

देवासुराः संयत्ता आसन् ॥ १ ॥ श० का० १३ । अ० ३ । ब्रा० ४ । कं० १ ॥

असुरानभिभवेम देवाः । असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः । सोदैवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ [ २ ] ॥

निर० अ० ३ । खं० ८ ॥

देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वाऽनवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्य-  
नर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ [ ३ ] ॥ निर० अ० १० । खं० ३४ ॥

सोऽर्चञ्छाम्यश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त । स आस्येनैव देवानसृजत । ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तदेवानां देवत्वं यदिवमभिपद्या-

सृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास ॥ अथ योऽयमवाङ्म्राणः तेनासुरानसृजत । त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त' । तस्मै ससृजानाय तम इवास ॥ सोऽवेत् । पाप्मानं वा असृधि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति । तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते, तत एव पराभवस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यदैवासुरम् । यदिदमन्याख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते, तत एव पराभवन्निति ॥ तस्मादेतद्विष्णोर्भाष्यनूक्तम् । न त्वं युयुत्से कतमञ्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कथनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति ॥ स यदस्मै देवान्ससृजानाय, दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्ससृजानाय तम इवास तांश्चरात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे ॥ स ऐक्षत प्रजापतिः ॥ [ ४ ] ॥

श० का० ११ । अ० १ । ब्रा० ६ । क० ७-१२ ॥

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ॥ [ ५ ] ॥

श० का० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । क० २२ ॥

इया ह प्राजापत्याः, देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः ॥ यदेवेदमप्रतिरूपं वदति न एव न पाप्मा ॥ [ ६ ] ॥

श० का० १४ । अ० ४ । ब्रा० १ । क० १, ३ ॥

ऊर्गिति देवा, मायेत्यसुराः ॥ [ ७ ] ॥

श० का० १० । अ० ५ । ब्रा० २ । क० २० ॥

प्राणा देवाः ॥ [ ८ ] ॥ श० का० ६ । अ० ३ । ब्रा० १ । क० १५ ॥

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ॥ [ ९ ] ॥

श० का० ६ । अ० ६ । ब्रा० २ । क० ६ ॥

[ भाष्यम्— ] ( देवासुराः० ) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वांश्चो हि देवाः ॥ श० का० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । क० १० ॥

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वात् ज्ञानरहितान्ध-  
कारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्ततेऽयमेव 'देवासुरसंग्रामः' ।

द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वेदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति ॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥

श० का० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५, ७ ॥

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनो-  
ऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो  
युद्धमिव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुरा, एतयोरपि विरोधो  
भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव  
प्रवर्तते ॥ [ १ ] ॥

प्रकाशाख्यातसौर्देवान्मनः षष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाश-  
कारकाः । असौरन्धकाराख्यातपृथिव्यादेरसुरान्धकर्मैन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत ।  
एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वातुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्चमानमस्तीति  
विज्ञेयम् ॥ [ २-३ ] ॥

( सौऽचञ्छाम्यंश्चचार० ) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमया-  
त्कारणात्, सूर्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा  
द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिषद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव  
देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते ।

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्ते-  
नैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिषद्यौषध्यादीन्पदार्थान-  
सृज्यन्त । ते सर्वे सकार्ष्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो  
युद्धमिव प्रवर्तते । तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा  
मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव  
प्रतिदिनं भवति, तस्मादेवोऽपि 'देवासुरसंग्रामो'ऽस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं  
देवो, रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तते ॥ [ ४ ] ॥

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्तन्ते । अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वान्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽग्निदांभो भवन्ति, पुनर्निदांभश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेस्तपचिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एस्त्र देवाः सूर्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीभ्यः सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तत इति ज्ञातव्यम् ॥ [ ५-६ ] ॥

ये प्राणपोषकाः स्वार्थमाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात्संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं 'देवासुरं युद्ध'मिति बोध्यम् ॥ [ ७-८ ] ॥

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रे-पृक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणमङ्गरेषु नरीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्निरृताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ—जो चौथी देवासुर सग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है, इस को भी बिना जाने प्रमादी लोगों ने जिगाड़ दिया है । जैसे—

'एक देवों की सेना थी कि चिन का हुमाचाप्यं पुरोहित था, और ये दक्षिण देव में रहे थे । तथा दूसरी देवों की सेना थी कि चिन का राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि, और पुरोहित बृहस्पति था । उन देवा के विषय कराने के लिये आर्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे । असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर माग लेते थे । और उनके मारने के लिये विष्णु अतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे ।'

यह सब पुराणा की गल्प व्यर्थ जानकर छोड़ देना । और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सब को उचित है । तद्यथा —

( देवासुरा स० ) द्य और असुर अपने अपने बाने में सब कर सब दिन युद्ध किया करते हैं । तथा इन्द्र और बृहस्पति की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी 'देवासुर-सग्राम' रूप जानो । क्योंकि सूर्य की किरण 'देव' सज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल 'असुर' सज्ञक हैं । उन का परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है ।

निषण्ड आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है । इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर सग्राम का स्वरूप यथार्थ

जान लेवें। जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले, वे तो 'देव', और जो अविद्वान्, झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे 'असुर' कहाते हैं। उन का परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है ॥ [ १ ] ॥

( सोर्दे० ) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है। और ( असो० ) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानो है ॥ [ २-३ ] ॥

तथा पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा दुष्ट लोग 'असुर' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम 'देव' और रात्रि का नाम 'असुर' है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

तथा शुक्लपक्ष का नाम 'देव' और कृष्णपक्ष का नाम 'असुर' है। तथा उत्तरायण की 'देव' संज्ञा और दक्षिणायन की 'असुर' संज्ञा है। इन सभी का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां जहां ऐसे लक्षण घट सकें, वहां वहां देवासुर संग्राम का रूपकालद्वारा ज्ञान लेना ॥ [ ४ ] ॥

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं, और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इनमें से जो जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे व्येष्ट कहाते हैं। क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं। तथा वात्स्यायन में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं। तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्राण होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं ॥ [ ५-६ ] ॥

उन में से जो जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं, वे 'असुर' और जो लोग परोपकारी परदुःखमंजन तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहाते हैं ॥ [ ७-८ ] ॥

इस सत्यविद्या के प्रकाश करनेवाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है।

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्य-  
शास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा—

‘मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्समै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाह-  
विधानेन दत्ताः । तत्तद्गमे दितेदैत्या, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव  
कद्रवाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथान्यासां सकाशाद्भानर्चद्बृक्षवासादय  
उत्पन्नाः ।’ इत्याद्या अन्वकारमग्न्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा अमम्भवग्रस्ताः कथा  
उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम् । तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम । प्रजापतिःप्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मा-  
त्कूर्मः, कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥

श० का० ७ । घ० ५ । बा० १ । कं० ५ ।

भाष्यम्—( स यत्कूर्मः ) परमेश्वरेणैवं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात्तस्य  
‘कूर्म’ इति मंशा । ‘कश्यपो वै कूर्म’ इत्यनेन परमेश्वरस्यैव ‘कश्यप’ इति  
नामास्ति । तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य  
इत्युच्यन्ते । ‘कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति’ निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः,  
सर्जयतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्यः एव निर्भ्रमतयाऽतिबृहन्ममपि  
वस्तु यथार्थं जानात्येनातः पश्यक इति । आश्रान्ताक्षरविपर्ययाद्विसेः सिंहः  
कृतेस्तकुर्तित्यादिवत्कश्यप इति ‘हयवरट्’ इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं  
मिथ्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ।

भाषार्थ—जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीरोंदि कथा लोगों ने धिगाड़ के  
मसिद्ध की हैं । जैसे देखो कि —

‘मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे । उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान  
से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब समार की उत्पत्ति हुई । अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति  
से आदित्य, दनु मे दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर,  
ऋक्ष, वास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए । इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं ।’  
इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिखि रक्खी हैं । उनको मानना  
किसी मनुष्य को उचित नहीं । देखिये, ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम  
लिखी हैं—

( स यत्कूर्मो० ) प्रजा को उत्पन्न करने से ‘कूर्म’ तथा उसको अपने ज्ञान से  
देखने के कारण परमेश्वर को ‘कश्यप’ भी कहते हैं । ‘कश्यप’ यह शब्द ‘पश्यक’ इस  
शब्द के आश्रान्ताक्षरविपर्यय से बनता है ॥

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग  
छोड़ दें कि जिससे सब का कल्याण हो । अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को—

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्वलं सत्यादोजीयः ।  
इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयास्तत्रे । प्राणा वै गयास्त-  
त्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयास्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥

श० का० १४ । अ० ८ । ब्रा० १५ । कं० ६, ७ ॥

गय इत्यपत्यनामसु पठितम् ॥ निघं० ग० २ । खं० २ ॥

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति । तीर्थमेवोदयनीयोऽति-  
रात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० का० १२ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० १, ५ ॥

अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ॥ इति छान्दोग्योपनि० [ प्र० ८ । खं० १५ ] ॥

समानतीर्थे वासी ॥ इत्यष्टाध्यायाम्, अ० ४ । पा० ४ । सू० १०७ ॥ सतीर्थ्यो  
ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् ॥

त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ।  
यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातकः ॥

इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे । [ का० २ कं० १ । सू० ३२, ३४ ] ॥

नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सुकाहस्ता निषृङ्गिणः ॥

इति शुक्लमजुर्वेदसंहितायाम्, अ० १६ । मं० [ ४२, ६१ ] ॥

[ भाष्यम्— ] एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा—  
[ ( प्राणो० ) ] प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणोऽ-  
ध्यात्मं प्रतिष्ठितम् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्या-  
यामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं 'गया' माह । प्राणानां गयेति संज्ञा प्राणा वै  
गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थाद् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया  
समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धावान् बीजा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्ध-  
विधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते ।

एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः  
श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्वरान्येषां  
मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां  
चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कर्ष्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन  
विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते ।

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे  
पापाणस्योपरि शिन्धिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्यार्थसाधन-  
तत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं, तस्य स्थलस्य गयेति च । तद्  
व्यर्थमेव । कुतः ? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां च । अतोऽत्रेये  
तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम्—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांशुसुरे स्वाहा ॥

यजु० अ० ५ । म० १५ ॥

यदिदं किञ्च तद्विक्रमे विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय  
पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकषूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः ।  
समूढमस्य पांशुरेप्पायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि बोधमार्थं स्यात् समूढमस्य  
पांशुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादः स्रपन्त इति वा, पन्नाः शेरत  
इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निह० अ० १२ । ख० १६ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा अमेण्यं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णु-  
व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः—‘पूषेत्यथ  
यद्विपितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैवा भवति—इदं  
विष्णुरित्यृक्’ ॥ निह० अ० १२ । स० १८, १९ ॥ वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति,  
चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोऽस्ति ।  
एतदर्थवाचिकैरमृक्—

इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । ‘क्रमु पादविशेषे’  
पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्याश्चैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं  
त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं  
प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यन्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्व-  
मन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके  
प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं  
मोहेन सह वर्चमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे



लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादाह स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् ।

अयमेवार्थः ( यदिदं किञ्च० )—इत्यनेन यास्काचार्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुव्यापिक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । ( त्रिधा निधत्ते पदं ) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव । तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोहमुर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति । कुतः ? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः स्रवन्त उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डितामासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् ।

तथैव वेदाद्युक्तीत्याऽऽयैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि 'तीर्थानि' मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा—

( तीर्थमेव प्राय० ) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते, तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बधिसर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्राचारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् ॥

एवमेव ( अहिंसन्० ) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वभूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तते । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाण्डिणो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव । अत्र वेदादि-सत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्मकर्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्राचरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥

तथैव ( समानतीर्थे वासी ) इत्यनेन समानो द्वयोर्विधार्थिनोरेक आचार्यः,

समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्  
सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखममुद्रात्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि,  
दुःखाचारकत्वादेव मन्तव्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति ॥

( प्रथः स्ना० ) प्रथ एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा-यः  
सुनिषमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्याश्रमसमाप्त्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स  
शुद्धो भवति । यस्तु सलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्यं सुनियमाचरणेन समाप्त्य,  
विद्यामममाप्त्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्याश्रमं  
समाप्त्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा  
यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान्, सर्वोपकारको  
भवतीति विज्ञातव्यम् ॥

( नमस्तीर्थ्याय च ) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः स तीर्थ-  
स्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्य-  
भाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्यसेविनो रक्षा  
महाबलाः, ( सूकाहस्ताः ) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते, ( निषाङ्गिणः ) निषंगः  
संशयच्छेदक उपदेशारूढः खड्गो येषां ते, सत्योपदेशारः । 'तै त्वीपनिषदं पुरुषं  
पृच्छामीति' ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः ।  
अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थारूप्यो  
धर्मार्त्तमर्त्ता स्वमर्त्तानां सत्यस्वारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि  
व्याख्यातानि ॥

प्रश्नः—यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?

अत्रोच्यते—नैवं जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भूयितुमर्हति, तत्र सामर्थ्या-  
भावात्, करणकारकन्युत्पत्त्यभावाच्च । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्पानैः, पद्भ्यां  
शङ्खभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वि-  
तानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्यान्न च नौकादिषु  
तिष्ठेत्तदा वश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद्देवानुयायिनामा-  
र्थ्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा  
मिष्यति । किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरभ्रैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्ग-  
विरोधिभिरन्यज्ञैर्विकार्यैः स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति ।

ननु—‘इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति’ [ ऋ० १०।७१।५ ] गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते ?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति । ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तरकत्वं च । कुतः ? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति ।

अन्यच्च, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिद्ध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्चनात् ।

एवमेव—‘सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०’ एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । ‘सङ्गथे’ इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति ।

तत्र संगच्छते—कुतः ? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि ‘सित’ शब्देनेडायाः, ‘असित’ शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायामां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं वोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः । अत्र प्रमाणम्—‘सितासितमिति वर्णनाम’ तत्प्रतिषेधोऽसितम् ॥ निरु० अ० २६ । खं० २६ ॥

सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्यादि-पृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ—छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रखा है—‘लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहाँ फल्गु नदी के तीर, पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका ‘विष्णुपद’ नाम रख दिया है । और यह बात प्रसिद्ध करदी है

कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है। जो लोग आंग्र के अंगे गांठ के पूरे वन के जाल में जा फसते हैं, उनकी गयावाले चलेते वस्त्रों से खूब हजामत बनाते हैं। इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश करते हैं। वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल मूठ हो की गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रगट हो जावेगा—

(प्राणो वै बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपामना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है, और उसका प्रतिपादन करने वाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको 'गया' कहते हैं। किसलिये कि उसका अर्थ जान के श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम 'गया' है, उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है। इसलिये ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम 'गया' है।

तथा निघण्टु में घर, मन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी 'गया' है। मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सत्र के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम 'गयाश्राद्ध' है।

तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी 'गयाश्राद्ध' है।

तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना, और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक् पृथक् भी 'गयाश्राद्ध' कहाने हैं।

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विवाहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रखी है, उस को कभी न मानना।

और जो वहा पापाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम 'विष्णुपद' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसी का नाम 'विष्णु' है।

देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूत्यथ०) —'विष्णु' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब पराचर जगत् में प्रविष्ट रहना या जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम 'विष्णु' है।

'कमु पादविष्णवे' यह पातु दूसरी वस्तु को पगों से दवाना या स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है, इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात्

प्रकृति परमाणु आदि सामान्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् सारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे ऐसे अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है।

(यदिदं किंच) — इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, त्रिधा—इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।—वह 'समारोहण' कहाता है। सो त्रिषुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आंख से देखने योग्य नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल होजाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है, और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को 'विष्णुपद' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं ॥

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा ज्ञान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब नीचे लिखे जाते हैं—

देखो 'तीर्थ' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरकें सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उनके सुखों के साधन हैं, उनही को 'तीर्थ' कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(तीर्थमेव प्रायः) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करनेवाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है ॥

तथा (अहिंसन्) सब मनुष्यों को इस 'तीर्थ' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी

संमारी व्यवहार के वर्त्तनों में दुःख न देना । परन्तु ( अन्यत्र तीर्थेभ्यः ) जो जो व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं, उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है । अर्थात् जो जो मनुष्य अपराधी, पापगुण अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त, और परपेक्षा में प्रवर्त्तमान हैं, वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं । इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम 'तीर्थ' है, कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं ॥

( समानतीर्थे० ) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य है उसका, वेदादिशास्त्रों, तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम 'तीर्थ' है । क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार होजाता है । इससे इन का भी तीर्थ नाम है ॥

( ध्रुवः स्नातका० ) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं— एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेद विद्या को पढ़ के, ब्रह्मचर्य को बिना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूपी 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है । दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को बिना समाप्त किये भी विद्या करता है, वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है । और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके, समानर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम 'तीर्थ' में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है ॥

( नमस्तीर्थ्याय० ) उक्त तीर्थों से प्राप्त होनेवाला परमेश्वर भी 'तीर्थ' ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है । जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं, तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर 'रुद्र' कहाते हैं । ( सूकाहस्ता० ) जिनके, सूका अर्थात् विज्ञानरूप हृत् तथा निषद्ग=संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य के उपदेशक भी 'रुद्र' कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको 'परमतीर्थ' कहते हैं । क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं ॥

प्रश्न - जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थान विशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं । और तीर्थ शब्द फलकारकयुक्त लिया जाता है । जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं । इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते । किसलिये कि जो जल में हाथ या पग न चलावें वा

नौका आदि पर न बैठें, तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं, वन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं।

प्रश्न—( इमं मे गङ्गे० ) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है, फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—हम लोग उनको नदी मानते हैं, और उन के जल में जो जो गुण हैं, उन को भी मानते हैं। परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में 'गङ्गा' आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुपुष्पा, कूर्म और जाठराग्नि की नाडियों के नाम हैं। उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाडियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाडियों का ही ग्रहण करना योग्य है।

( सितसिते० )—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं, उसको 'सुपुष्पा' कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के पाची हैं।' इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

तथैव यच्चन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः ? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो बरीवृत्त्यते। तद्यथा—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ १ ॥

यजुः० अ० ३२। मं० ३ ॥

भाष्यम्—( यस्य ) पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य [ ( नाम ) ] महद्यशः यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्तुं महं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, ( हिरण्यगर्भः ) यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजस्विनां गर्भं उत्पत्तिस्थानम्, [ ( मा मा० ) ] यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिंसीदित्येषा प्रार्थना कार्या, ( यस्मान्न० ) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाश-त्कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति, [ ( न तस्य० ) ] नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं मूर्त्यादि-

कल्पनं किञ्चिदप्यस्ति । परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्यत्वादपरिमेषत्वाच्चिराकारत्वा-  
त्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च ॥ [ १ ] ॥

इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः ।

स पर्य्यागाच्छुक्रमकायमव्रणमरणाविरश्शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः  
स्वयम्भूर्योथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाम्यः ॥ २ ॥

य० अ० ४० । म० ८ ॥

भाष्यम्—यः ( कविः ) सर्वज्ञः ( मनीषी ) सर्वसाक्षी, ( परिभूः )  
सर्वोपरि विराजमानः, ( स्वयम्भूः ) अनादिस्वरूपः परमेश्वरः ( शाश्वतीभ्यः )  
नित्याभ्यः, ( समाम्यः ) प्रजाम्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च ( याथातथ्यतोऽर्थान्  
व्यदधात् ) विहितवानस्ति, ( स पर्य्यागात् ) सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् ( शुक्रम् )  
वीर्यवत्तमम्, ( अकायम् ) मूर्तिजन्मधारणरहितम् ( अव्रणम् ) छेदभेदरहितम्,  
( अस्नाविरम् ) नाडीबन्धनादिविरहम्, ( शुद्धम्, ) निर्दोषम्, ( अपापविद्धम् )  
पापात्पृथग्भूतम् । यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वरूपासनीयमिति मन्यध्वम् ॥ [ २ ] ॥

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते । तस्मादयं नैव केनापि  
मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति ।

प्रश्नः—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ?

उत्तरम्—अस्ति ।

प्र०—पुनः किमर्थो निषेधः ?

उ०—नैव—प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते ।

अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥

अथर्व० वा० ३ । य० १० । म० ३ ॥

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दद्यात् च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि  
संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ [ ४ ] ॥ य० वा० १० । प्र० ३ । वा० २ । य० २० ॥



यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ [ ५ ] ॥

सामवेदीय त्वलकारोपनिषदि, खण्ड १ । मं० ४ ॥

भाष्यम्—इत्यादिमन्त्रपञ्चकं मूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । [ ( संवत्सर० ) ] विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, त्रयमपि त्वां<sup>३</sup> तामेवोपास्महे । अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति । [ ( सा न० ) ] यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनुषुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां ( संसृज ) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति ॥ [ ३ ] ॥

( मूहूर्चा० ) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मूहूर्चाः सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः ॥ [ ४ ] ॥

( यद्वाचा० ) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, [ ( तदेव० ) ] तद् ब्रह्म हे मनुष्य! त्वं विद्धि । यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं, नेतरदिति ॥ [ ५ ] ॥

प्र०—किञ्च भोः ! मनुस्मृतौ—'प्रतिमानां च भेदकः'; 'दैवतान्यभिगच्छेत्'; 'देवताऽभ्यर्चनं चैव'; 'देवतानां च कुत्सनम्'; 'देवतायतनानि च'; 'देवतानां छायाल्लङ्घननिषेधः'; 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ'; 'देवतागारभेदकान्'—उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ?

उ०—अत्र 'प्रतिमा' शब्देन रक्तिकामापसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा—'तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम्' ॥ मनु० अ० ८ । षलोकः ४०३ ॥ इत्यनया मनुक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वाच्चोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवताय-

तनानि च' सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाम्यर्चनं सत्कारणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा द्वापोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च काव्येति ।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विशेषाः । ग्रन्थभूयस्त्वमिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनरुग्णीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भाषार्य—अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुगण ग्रन्थ हैं, उन में पाथर आदि की मूर्त्तिपूजा, तथा जाना प्रकार के नामस्मरण, अर्थात् राम राम, कृष्ण कृष्ण, काशादि माला, तिलक, इत्यादि का विधान करके, उन को अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के, साधन मान रखे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये । क्योंकि, वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है । जैसे—

( न तस्य० ) । पूर्ण—जो किसी प्रकार से कम नहीं, सब—जो जन्म नहीं लेता, भीरु निराकार—जिस की किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिस की आज्ञा का ठीक ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिस का 'नामस्मरण' कहाता है । ( हिरण्यगर्भ० ) जो परमेश्वर तेजगले सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है । जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—( मा मा हिंसी० ) हे परमात्मन् । हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये । कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये, तो उत्तर यह है कि—( यस्मात्त० ) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके थालक, जवान और वृद्ध होता है, ( न तस्य० ) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात् नाव का साधन तथा प्रतिविम्ब वा सदृश, अर्थात् जिस की तसवीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है । क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित, और सब में व्यापक है । इस से निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये ॥ [ १ ] ॥

फदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है ? तो यह बात समझना चाहिये कि—जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा, और फिर यह वृद्ध होकर मर जायगा, तब किस की पूजा करोगे । इस प्रकार मूर्त्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध होगया ।

तथा—( स पर्यगाच्छु० ) । जो परमेश्वर ( कवि ) सब का जाननेवाला, ( मनोषी ) सब के मन का साक्षी, ( परिभू ) सब के ऊपर विराजमान, और ( शर्वभूः ) अनादित्वरूप है, [ ( यायाव० ) ] जो अपनी अनादित्वरूप प्रज्ञा को अन्तर्यामिरूप से

और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, ( स पथ्यगात् ) सो सब में व्यापक, ( शुक्रम ) अत्यन्त पराक्रमवाला, ( अकायं ) सब प्रकार के शरीर से रहित, ( अत्रणं ) कटना और सब रोगों से रहित, ( अस्नाविरं ) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, ( शुद्धं ) सब दोषों से अलग, और ( अपागविद्धं ) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सब को मानना चाहिये ॥ [ २ ] ॥

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म भरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया, इससे इस की पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता ।

( संवत्सरस्य ) विद्वान् लोग संवत्सर की, जिस ( प्रतिमां० ) क्षय आदि काल के विभाग करनेवाली रात्री को उपासना करते हैं. हम लोग भी उसी का सेवन करें । जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है । इसलिये इन रात्रियों की भी 'प्रतिमा' संज्ञा है । ( सा न आयु० ) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त संतानों को उत्पन्न करें ॥ [ ३ ] ॥

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि—( मुहूर्त्तां० ) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी 'प्रतिमा' शब्द के अर्थ में समझने चाहिये । क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है ॥ [ ४ ] ॥

( यद्वाचा० ) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानना है । हे मनुष्यो ! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो, और न कि मूर्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जोकि उस के रचे हुए हैं । अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो । यह उपनिषद्कारक ऋषियों का मत है ॥ [ ५ ] ॥

प्र०—क्योंजी ! मनुस्मृति में जो 'प्रतिमानां०' इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि कोई प्रतिमा को तोड़े उसको राजा दण्ड देवे । तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना, और उनकी परित्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं ?

उ०—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ, और आंख खोल कर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है । क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके ( तुलामानं० ) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है । क्योंकि—'तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमानं वा प्रतिमा अर्थात् वाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे छठे भास अर्थात् छः छः महीने में एक बार किया करें, कि जिससे उन

में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सके। और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड दें।

फिर ( देवतान्मर्चनं ) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम 'देव' कहा है। अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं, उन स्थानों को 'देवत' कहते हैं। वहां जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहिये। ( देवतानां च कुत्सन ) उन विद्वानों की निन्दा, उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का थिराड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये। किन्तु ( देवतान्मर्चनं ) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी अच्छी बातों को मीठा करें। ( प्रदक्षिणा० ) उन को मान्य के लिए दाहिनी दिशा में घैठाना। क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है।

ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रनिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का दर्शन हो, इसी प्रकार निष्प्रमत्ता से वहां समझ लेना चाहिये। यहां सब का संप्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। ऐसा हो सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कष्टी और तिलक-धारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन, कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

एवमेव सूर्यादिग्रहपीडागान्तये बालशुद्धिभिराकृष्येन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेपां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा— तत्राकृष्येन रजसेति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः। इमं देवा अमपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति।

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।

अपाथं रेतांश्चि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३। म० १२ ॥

उदयुष्पस्त्राग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूते सत्सृजेथामयं च।

अस्मिन्मधस्ये अघ्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सोदत ॥ २ ॥

य० अ० १५। म० ५४ ॥

भाष्यम्—( अयमग्निः ) परमेश्वरो भौतिको वा ( दिवः ) प्रकाशबल्लो-  
कस्य ( पृथिव्याः ) प्रकाशरहितस्य च ( पतिः ) पालयितास्ति ( मूर्धा ) सर्वोपरि  
रिराजमानः, ( ककुत् ) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां  
पालयितास्ति। 'व्यत्ययो बहुलमिति' सूत्रेण भस्मरस्थाने तत्कारः। ( अपाथं  
रेतांसि ) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकधायां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्याणि

( जिन्वति ) पुष्पाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ १ ॥

( उद्बुध्यस्वान्ने ) हे अग्ने परमेश्वर ! अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव । ( प्रतिजागृहि ) अविद्यान्धकारनिद्रातस्त्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । ( त्वमिष्टापूर्त्ते० ) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्य-देहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत् समुत्पादयेत्, त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाम्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् । ( अस्मिन् सद्यस्थे ) अस्मिन् लोके शरीरे च, ( अद्युत्तरस्मिन् ) परलोके द्वितीये जन्मनि च, ( विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ॥ २ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादि ग्रहपीडा की शांति के लिये ग्रहण किया है । सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है । मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं । क्योंकि, उस मन्त्रों में ग्रहपीडानिवारण करना यह अर्थ ही नहीं है । 'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा 'इमं देवा०' इसका अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है ।

( अग्निः ) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है, वह ( दिवः ) प्रकाश-वाले, और ( पृथिव्याः ) प्रकाशरहित लोकों का पालन करनेवाला तथा ( मूर्धो ) सब पर विराजमान, और ( ककुप्तिः ) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है । 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से 'ककुम्' शब्द के भकार को तकारादेश हो गया है । ( अपा३ रेता३सि जिन्वति ) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्यों को पुष्ट करता है । इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करनेवाला है ॥ १ ॥

( उद्बुध्यस्वान्ने ) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये । ( प्रति जागृहि ) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके, विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये कि जिससे ( त्वमिष्टापूर्त्ते ) हे भगवन् ! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये । ( अस्मिन् सद्यस्थे ) इस लोक और इस शरीर तथा ( अद्युत्तरस्मिन् ) परलोक और दूसरे जन्म में ( विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें, कि जिससे हम लोग

विद्यायुक्त होते रहें । 'व्यत्यगो बहुलम्' इस सूत्र से 'ससृजेयाम्' 'सौदत' इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ ॥ २ ॥

वृहस्पते अति यदर्यो अर्हीद् द्युमद्विभाति कर्तुमज्जनैषु ।

यदीदयच्छ्वसः श्रुतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ ३ ॥

य० अ० २६ । म० १ ॥

अत्रात्परिस्तुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रपयः सोमं प्रजापतिः ।

श्रुतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ४ ॥

य० अ० १६ । म० ७१ ॥

भाष्यम्—( वृहस्पते ) हे वृहतां वेदानां पते पालक ! ( श्रुतप्रजात ) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं ( जनेषु ) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, ( कर्तुमत् ) भूयांसः कृतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, ( द्युमत् ) सत्यव्यवहार-प्रकाशो विप्रते यस्मिंस्तत्, ( दीदयच्छ्वसः ) दानयोग्यं, श्वसो बलस्य प्रापकं, ( यदर्यो अर्हीद् ) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्, अर्यः स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु ( विभाति ) प्रकाशते, ( चित्रं ) यद्धनमदभुतम् ( तदस्मासु द्रविणं धेहि ) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया घेहीत्यनेन मन्त्रेश्वरः प्रार्थयते ॥ ३ ॥

( क्षत्रं ) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, ( ब्रह्मणा ) वेदविद्विष्य सह, ( पयः ) अमृतात्मकं, ( सोमं ) सोमाद्योषधिसम्पादितं, ( रसं ) युद्धयानन्दशौर्यधैर्यबल-पराक्रमादिमद्गुणप्रदं, ( व्यपिबत् ) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः ( श्रुतेन ) यथार्थवेदविज्ञानेन, ( सत्यं ) धर्मं राजव्यवहारं च, ( इन्द्रियं ) शुद्ध-विद्यायुक्तं ज्ञानं मनः, ( विपानं ) विविधराजधर्मरक्षणं, ( शुक्रं ) आशुमुखकरं, ( अन्धसः ) शुद्धान्त्येच्छाहेतुं, ( पयः ) सवपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, ( अमृतं ) मोक्षसाधकं, ( मधु ) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, ( इन्द्रस्य ) परमेश्वर्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्धामिन ईश्वरस्य कृपया, ( इन्द्रियं ) विज्ञानयुक्तं, मनः प्राप्य ( इदं ) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । ( प्रजापतिः ) परमेश्वर एवमाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात् । ( अत्रात्परिस्तुतः ) म चामृतात्मको रसोऽन्नाद्रोज्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्तु तश्चपुवो युक्तो वा कार्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रियेण कर्तव्यम् ॥४॥

भाष्यार्थ—( वृहस्पते ) हे वेदविचारक । ( श्रुतप्रजात ) वेदविद्या से

प्रसिद्ध जगदीश्वर ! आप, ( तदस्मासु द्रविणं धेहि ) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का ( चित्रं ) अद्भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये । कैसा वह धन है कि ( जनेषु ) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में ( क्रतुमत् ) जिससे बहुत से यज्ञ किये जायें, ( द्युमत् ) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, ( शवसः ) बल की रक्षा करनेवाला, और ( दीदयत् ) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करनेवाला, तथा ( यदय्यो० ) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर ( विभाति ) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है, उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये । ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ३ ॥

( क्षत्रं ) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से ( ब्रह्मणा ) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे । इसी प्रकार ( पयः ) जो अमृतरूप ( सोमं ) सोमलता आदि ओषधियों का सार, तथा ( रसं ) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ानेवाला है, उन को ( व्यपिबत् ) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग ( ऋतेन ) वेदविद्या को यथावत् जान के, ( सत्यं ) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ( इन्द्रियं ) शुद्धविद्यायुक्त ज्ञानस्वरूप मन, ( विपानं ) यथावत् प्रजा का रक्षण, ( शुक्रम् ) शीघ्र सुख करनेहारा, ( अन्धसः ) शुद्ध अन्न की इच्छादुक्त, ( पयः ) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित ( अमृतं ) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, ( मधु ) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, ( इदं ) उन सब से परिपूर्ण होकर ( इन्द्रस्य ) परमेश्वर्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, ( इन्द्रियं ) विज्ञान को प्राप्त होते हैं । ( प्रजापतिः ) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन किया करो । ( अन्नारपरिस्तुतः ) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ४ ॥

शर्त्ता देवीरुभीष्टय' आपो भवन्तु पीतये । शंयोरुभि सवन्तु नः ॥ ५ ॥

य० अ० ३६ । मं० १२ ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदाष्टधः सखा ।

कया सचिष्टया<sup>२</sup> वृता ॥ ६ ॥ य० अ० २७ । मं० ३६ ॥

केतुं कृष्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्गिरजायथाः ॥ ७ ॥

य० अ० २६ । मं० ३७ ॥

१—'रुचिष्टय' इति मान्नः पाठः ॥ सं० ॥ २—'सचिष्टया' इति मान्नः पाठः ॥ सं० ॥

भाष्यम्—‘आप्तु व्याप्तौ’ अस्माद्धातोरप्लब्धः सिध्यति, स नियतस्त्री-  
लिङ्गो बहुवचनान्तश्च । ‘दिबु’ क्रीडाद्यर्थः । ( देवीः ) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः,  
सर्वानन्दप्रदः, सर्वव्यापक ईश्वरः ( अभीष्टये ) इष्टानन्दप्राप्तये, ( पीतये ) पूर्णानन्द-  
भोगेन वृत्तये, ( नः ) अस्मभ्यं, ( शं ) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः  
कल्याणं भाषयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि  
( शंयोः ) सर्वतः सुखस्य घृष्टिं करोतु । अत्र प्रमाणम्—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।

असच्च यत्र सच्चान्तः स्क्रुम्भं तं ब्रूहि कतमः सिद्धेव सः ॥

अथर्व० का० १० । अ० ४ । व० २२ । मं० १० ॥ [ = १० । ७ । १० ]

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्लब्धेन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा—

( आपो ब्रह्म जना विदुः ) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति ।  
( यत्र लोकांश्च कोशांश्च ) यस्मिन् परमेश्वरो सर्वान् भूगोलान्निधीश्च, ( असच्च यत्र  
सच्च ) यस्मिन् स्थानित्यं कार्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति । ( स्क्रुम्भं तं ब्रूहि  
कतमः सिद्धेव सः ) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कामोऽस्ति, विद्वांस्त्वं  
ब्रूहीति पृच्छयते ( वन्तः ) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामभ्यन्तरे-  
ऽन्तर्ध्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ५ ॥

( कया ) उपासनारीत्या ( सचिष्टया ) अतिशयेन सत्कर्मनुष्ठानप्रकारया,  
( यता ) शुभगुणेषु वर्चमानया, ( तया ) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः,  
( चित्रः ) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, ( मदावृषः ) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः  
परमेश्वरः, ( नः ) अस्माकं, ( सखा ) मित्रः, ( आ भुवत् ) यधामिमुखो भूत्वा  
( उती ) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्,  
तर्थास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ६ ॥

हे ( मर्या ) मनुष्याः ! ( उपद्भिः ) परमेश्वरं कामयमानैस्दाहारां  
वर्चमानैर्विद्वद्भिर्गुणैः सह समागमे कृते सत्येव, ( अकेतये ) अज्ञानविनाशाय,  
( केतुं ) प्रज्ञानम्, ( अपेशसे ) दारिद्र्यविनाशाय, ( पेशः ) चक्रवर्चिराज्यादि-  
सुरमम्पादकं धनं च ( कृष्णन् ) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः ( अजायथाः ) प्रसिद्धो  
भवतीति वेदितव्यम् ॥ ७ ॥

[ इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविवक्षः ]



भाषार्थ—( शत्रो देवी० ) । 'आप्ल न्याप्तौ' इस धातु से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है । सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है । तथा जिस 'दिवु' धातु के स्त्री आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है । ( देवीः ) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देनेवाला, ( आपः ) सर्वव्यापक है, ( अभीष्टये ) वह इष्ट आनन्द और ( पीतये ) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, ( नः ) हमको सुखी होने के लिये, ( शं ) कल्याणकारी ( भवन्तु ) हो । वही परमेश्वर ( नः ) हम पर ( शंयोः ) सुख की ( अभिस्रवन्तु ) वृष्टि करे ।

इस मन्त्र में 'आप' शब्द से परमात्म के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—

( आनो ब्रह्म जना विदुः ) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आप' परमात्मा का नाम है ।

प्रश्न—( यत्र लोकांश्च कोशांश्च ) सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित, ( असच्च यत्र सच्च ) तथा जिस में अनित्य कार्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, ( स्कन्धं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः ) वह सब लोकों को धारण करनेवाला कौन पदार्थ है ?

उत्तर—( अन्तः ) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्-र्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है । ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ५ ॥

( कथा ) जो किस उपासनारीति ( सचिष्ठयो ) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद् सहित, ( वृता ) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान, ( कथा ) सुखरूप धृत्तिसहित सभा से प्रकाशित, ( चित्रः ) अद्भुतस्वरूप, ( सदावृधः ) आनन्दस्वरूप, और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह ( नः ) हमारे आत्माओं में ( आभुवत् ) प्रकाशित हो । ( ऊती ) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि ( उपद्भिः समजाययाः ) हे अग्ने जगदीश्वर । आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं । और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ६ ॥

हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् । आप ( केतुं कृण्वन् ) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये । तथा ( व्यकेतवे ) अज्ञान और ( अपेशसे ) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ [ ( पेशः ) ] विज्ञान घन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये, कि जिससे ( मर्याः ) जो आपके उपासक लोग हैं, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ७ ॥

[ इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः ]

# अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ?

सर्वेषामस्ति । वेदानामीश्वरोक्तत्वासर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाश-  
कत्वाच्च । यद्यादि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति, तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विज्ञा-  
नीमः । अत्र प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यांश्च शूद्राय  
चार्याय च स्वाय चारणाय । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमुप मे  
कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः, सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठया  
इत्याह्नां ददाति । तद्यथा—( यथा ) येन प्रकारेण, ( इमाम् ) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदा-  
दिवेदचतुष्टयीं, ( कल्याणीम् ) कल्याणसाधिकां, ( वाचम् ) वाणीं, ( जनेभ्यः )  
सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, ( आवदानि ) आसमन्तादुपदिशानि,  
तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयीं वागुपदेष्टव्येति ।

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्—जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्यं, वेदाध्ययनाभ्यापने  
तेषामेवाधिकारत्वात् ?

नैवं शक्यम्—उत्तरमन्त्रमागार्थविरोधात् । तद्यथा—कस्य कस्य वेदाध्य-  
यनश्रवणेऽधिकारोऽस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते—

( ब्रह्मराजन्याभ्यां ) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, ( अर्याय ) वैश्याय, ( शूद्राय ),  
( चारणाय ) अतिशूद्रायान्त्यजाय, ( स्वाय ) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च,  
सर्वैः संपा वेदचतुष्टयीं श्राव्येति । ( प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह० ) यथाहमी-  
श्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः,  
दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि  
सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणीं श्राव्येति । यथायं ( मे ) मम  
कामः समृध्यते, तथैवैवं कुर्वतां भवतां ( अयं कामः समृध्यताम् ) इयमिष्टसुखेच्छा  
समृध्यतां सम्पन्नेष्वर्थात् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति, ( उप मादो नमतु )  
तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति ।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्तव्या । नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्तव्यमिति । कुतः ? यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति । कुतः ? 'वृहस्पते अतियदर्य' इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—प्र०—वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है या नहीं ?

उत्तर—सबका है । क्योंकि, जो ईश्वर की सृष्टि है, उस में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो सो सब के उपकारार्थ हैं ।

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्गों का ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है । और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है ।

उत्तर—यह बात सब मिथ्या है । इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं । वहाँ यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है । उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है ।

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों का वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है ?

उत्तर—सब को है । देखो । इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं—

( यथेमां वाचं कल्यार्णी० ) । इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का । इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो । क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सबकी कल्याण करनेवाली है । तथा ( आवदानि जनेभ्यः ) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूँ, वैसे ही सदा तुम भी किया करो ।

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जहाँ कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहाँ केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता । जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है—

( ब्राह्मराज्याभ्यां शूद्राय चाप्ययं च स्वाय चारणाय ) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणार्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्ग्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है । क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है । जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सब का हितकारक है । और ईश्वररचित पदार्थों के दायमागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं । इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है । क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं । ( प्रियो देवानाम् ) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यत्रिशा का उपदेश करके रिद्धानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा, तथा ( दक्षिणायै दातुरिह भूयास ) जैसे दानी या शीलमान् पुत्र को प्रिय होता हूँ, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदत्रिशा को सुना कर सबको प्रिय हो । ( अय मे काम समृध्यताम् ) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम ससार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे । ( उप मादो नमतु ) जैसे मुझ में अतन्त्र विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा ससार का सुख प्राप्त होगा ।

यही इम मन्त्र का अर्थ ठीक है । क्योंकि, इससे अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति यदप्यं' में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है । इससे सबके लिये वेदाधिकार है ॥ १ ॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भरन्ति । अथाह मनुः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मण्येति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥

मनु० अ० १० । मनो० ६५ ॥

भाष्यम्—शूद्रः पूर्णत्रियामुनीलतादिब्राह्मणगुणपुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणमार्गं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव । एवमेव कृचर्याऽधर्माचरणानिर्तुं द्विमूर्तत्पराधीनतापरसेनादिशूद्रगुणैर्पुंक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थादस्य वर्णस्य गुणैर्पुंक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव ॥ १ ॥

एवमेवापस्तम्बमूत्रेऽप्यस्ति—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्व पूर्व वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

[ भाष० मर्मसूत्र ] प्रश्न २ । पटल ५ । खं० ११ । सू० १०, ११ ॥

भाष्यम्—सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥

एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो, जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकार-प्राप्तेरचेति ॥ २ ॥

यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः— शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वाच्चस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति ।

[ इति संचेपतोऽधिकारानधिकारविषयः ]

भाषार्थ—वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है । इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि—( शूद्रो ब्राह्मणता० ) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है । अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण रहता है, तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । वैसे शूद्र भी मूर्ख हो, तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है । वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना ।

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता ? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक ठीक होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है । इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ।

तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है—( धर्मचर्या० ) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं । सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस जिस वर्ण को जिन जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार ( आपद्यते जातिपरिवृत्तौ ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

( अधर्मचर्या० ) तथा अधर्माचरण करके पूर्व पूर्व वर्ण नीचे नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥ २ ॥

इति संचेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

# अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

—५—

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाभरोच्चारणोपदेशः कर्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा—‘प’ इत्यस्योच्चारण-  
मोष्ठौमंयोज्यैव कार्प्यम् । अस्याष्टौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र ।

अत्र महामाप्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥

महा० अ० १ । पा० १ । भा० १ ॥

भाष्यम्—नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्त्ता पङ्खादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं दुर्ग्राह्येयम् तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह । तद्यथा—

सकलम्, शकलम्, सकृत्, शकृदिति । सकलशब्दः सम्पूर्णार्थमाची । शकल इति खण्डमाची च । एवं सकृदित्येकवारार्थमाची । शकृदिति मलार्थमाची चात्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वमिषं नाभिधत्ते । स वाग्वज्रो भवति । यमर्थम्मन्त्रोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति । तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा—

इन्द्रः सूर्यलोकास्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषममामार्थ-  
मन्तोदाचे कर्त्तव्ये आयुदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्ययोरुपनिर्णयं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तर-  
पदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्येन्द्रा  
सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयममासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः ।  
यस्य च मेघस्य, तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्यायुदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रा-

न्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात्स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ—पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें। जैसे 'प' इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उस को भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है।

फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि—स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहा जाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा ( स वाग्वज्रो० ) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के बिना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गान-विद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह ( दुष्टः शब्दः ) दुःख देनेवाला और झूठ समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है। और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि 'तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।'।

जैसे 'सकल' और 'शकल' में देख लो। अर्थात् 'शकल' शब्द सम्पूर्ण का बोधक, और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर खरब का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और 'शकृत्' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'प्रथम किया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक ठीक अर्थ का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है।

जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है, तथा अन्वोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तर-पदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है। जो

इन्द्र अथान् सूर्य्य की उत्तमता चाहे, वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे, और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे । इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ॥ [१] ॥

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठति तस्मात्स्वयं पाठमात्रकार्प्यप्युत्तमो भवति । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्ध-विज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि—

ऋचो अक्षरं परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निपेदुः ।

यस्तन्न वेद किमुचा करिष्यति य इच्छिद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥

ऋ० मण्डल १ । सू० १६४ । मं० ३६ ॥

स्थाशुरयं भारद्वाजः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ इत्सुकर्त्तुं भद्रमर्दनुने नार्कमेति ज्ञानविधृतपाप्मा ॥ ३ ॥

पदं ग्रहीतमविज्ञातं निगर्देनैव शन्यते ।

अनप्राविशं शुष्कं धो न तज्जलति कर्हिचित् ॥ ४ ॥

निघ० अ० १ । सं० १५ ॥

उत त्रः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वं शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्मर्शं वि मते जायेव पयं उशती सुवासाः ॥ ५ ॥

उत त्वं सुख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्यन्त्यपि वाजिनेषु ।

अर्धेन्या चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अंफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥

ऋ० मण्डल १० । सू० ७१ । मं० ४, ५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति ।

(ऋचो अक्षरं०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्रथायके ब्रह्मणि, चत्वारो वेदाः पर्य्यवमितार्थाः सन्ति । अगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । त्वं किं ब्रह्मेत्यब्राह्म—यस्मिन् विरवेदेवाः = सर्वे विद्वांसो मनुष्या, इन्द्रियाणि च, सूर्यादयश्च सर्वे लोका, अधिनिपेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म



विज्ञेयम् । ( यस्तं न वेद० ) यः खलु तं न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति । नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । ( य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ) ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुयन्ति । तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥

( स्थाणुरयं० ) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तत्र भुङ्क्ते, किन्तु तेनोडं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् ( किलाभूत् ) भवतीति मन्तव्यम् । ( योऽर्थज्ञ० ) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन ( विधूतपाप्मा ) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव, सकलं सम्पूर्णं, भद्रं भजनीयं सुखं, अयनुते प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा नाकमेति सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥

( यद् गृहीतमविज्ञातं ) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाध्ययनं क्रियते, किं तु ( निगदनैव ) पाठमात्रेणैव ( ज्ञद्यते ) कथ्यते, तत् ( कर्हिचित् ) कदाचिदपि ( न ज्वलति ) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? ( अन्मनाविव शुष्कैधः ) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सांप्रतं प्रज्वलनमिन्धनमिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥

( उत त्वः पश्यन्न ददर्श० ) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति । ( उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति । यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । ( उतो त्वस्मै ) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै ( वाक् ) विद्या ( तन्वं ) शरीरं स्वस्वरूपं ( विसस्त्रे ) विविधतया प्रकाशयति । कस्मै का किं कुर्वतीव ? ( जायेव पत्य उशती सुवासाः ) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि

धारयन्ती, पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाभ्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरभारभ्य प्रथित्रीपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

( सरये ) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभाजकर्मणि, ( उत त्वं ) अन्यमनुजानं पूर्णाग्निदायुक्तं, ( स्थिरपीतं ) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं, ( आहुः ) वदन्ति । ( नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु निरुद्धादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेवमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति । तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्चमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते ।

अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्धेनाविद्वन्लक्षणमाह—( अघेन्वा चरति ) यतो यो ह्यग्निद्वान् ( ह्यपुष्पाम् ) कर्मोपासनानुष्ठानाचारनिवारहितां ( अफलां ) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं ( शुश्रुगान् ) श्रुतगान्, तथाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया ( मायया ) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिन्लोकं चरति, नैनं स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकारारूपं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति । तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाभ्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये । क्योंकि अर्थज्ञान के बिना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता । परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है । जो वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सब से उत्तम होता है ।

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं । जैसे—( ऋचो अक्षरे परमे व्योमन० ) । यहाँ इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के बिना पढ़ने का निषेध किया जाता है । प्र० जिसका त्रिंश कभी नहीं होता, और जो सब से श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सब में रहनेवाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? उ०—( यस्मिन्देवा० ) जिस में सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रिया, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं,

वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है ? कभी नहीं। इसलिये जैसा वेद विषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है, वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥

( स्थाणु० ) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को बिना गुणबोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भोग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। ( योऽर्थज्ञः० ) और जो अर्थ का जानने वाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि, जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह ( नाकमेति ) सर्वदुःख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥

( यद् गृहीत० ) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। ( अतगनावि शुष्कैषो० ) जैसे अग्नि के बिना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे ही अर्थज्ञान के बिना अध्ययन भी ज्ञान-प्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

( उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत० ) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है, कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। ( उतो त्वस्मै० ) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। ( जायेव पत्य उशती सुवासाः ) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जानने वाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥

( उत त्वं सख्ये० ) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे, कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उसका है जो कि अर्थ सहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान्

है, वह मंसार को सुख देने वाला होता है । ( नैन हि० ) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता । क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है, उस को दुःखरूप घोर दुःख कभी नहीं दे सकते । ( अघेन्वा च० ) और जो कोई अधिव्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । किन्तु शोकरूप अथु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं । क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता । इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् । ततो निघण्डु-  
निरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम् । ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्य-  
वेदान्तानां वेदोपाङ्गानां पण्णां शास्त्राणाम् । तत ऐतरेयशतपथमामगोपथब्राह्मणा-  
नामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम् । यद्वा एतत्सर्वमधीतवान्निः कृतं  
वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति ।

कुतः ? 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति' । यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स  
नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्याममूहं वा वेत्तुमर्हति । कुतः ? सर्वा मां विद्यानां  
वेद एवाधिकरणमस्स्यतः । नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति ।  
यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत्  
भरति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । कुतः ? यद्यग्रथार्थ  
विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति । तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो  
भवितुं योग्यः । अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ।

[ इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ]

भाषार्थ—मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण  
अष्टाध्यायी घातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त,  
छन्द और ज्योतिष ये छ. वेदों के अङ्ग । मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और  
वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक ठीक जाना जाता है ।  
तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़  
के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य सत्य वेद व्याख्यान किये हों,  
उनको देस के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें ।

क्योंकि, 'नावेदवित्०' वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो जो जहां जहां भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो जो सत्य विज्ञान है सो सो ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है। और विद्या के बिना पुरुष अन्वे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को बिना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहिये।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

# अथ संक्षेपतो भाष्यकरणाशङ्कासमाधानादिविषयः



प्रश्नः—किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वाच्च केनापि ग्राह्यं भवतीति ?

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्वक्षाणमारभ्य याज्ञत्रिक्यग्रात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिरचैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यामन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्देशोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुप-वेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति । एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति ।

प्रश्नः—किमेनेन फलं भविष्यतीति ?

उत्तरम्—यानि रावणोऽटसायणमहीधरादिभिर्देशार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणोद्भलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवाय्यार्चदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थ-गर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथायत् प्रकाशो भविष्यति । टीकानामधिक-दोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च ।

परन्त्वयकाशभागात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तथा—यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमभिज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्ड-तत्पराः सन्ती' त्युक्तम्—

तदन्यथास्ति । कुतः ? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात् । तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति । एतावतैनास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

( इन्द्रं मित्रं ० ) अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः । तथा—तेनानेन्द्र-शब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया । अत्र सतु विशेष्योऽग्नि-शब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सङ्गस्तु वक्ष्यविशेषणं भवति । एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेष-

णम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं चैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति । तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात् । इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा—‘इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा भेदाविनो यदतीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥’ निरु० अ० ७ । ख० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम् ।

तथा च—‘तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थित’मित्युक्तम् ।

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति तद्यथा—सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव ।

कोऽपि ब्रूयात्—सायणाचार्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः, इत्युक्तत्वाददोष इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता । तद्यथा—‘अज एकपात्,’ ‘स पर्यगाच्छुक्रमकाय’ मित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति ।

एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति । अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति ।

भाषार्थ—प्रश्न - क्योँजी । जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन । जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है । क्योंकि, वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं । और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई भी न मानेगा । क्योंकि, जो बिना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है ?

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है । परन्तु जो रावण उबट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब ४५

मूलमन्त्र और अपि कृत व्याख्यानो से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, अथर्वब्राह्मणदि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उन के प्रमाणों से मुक्त बनाया जाता है, यही इस में अपूर्वता है। क्योंकि जो जो प्रागाख्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र मिल आये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस=११२७ वेदों की शास्त्रा भी उन के व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो जो भाष्य उषद, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानो से विरुद्ध हैं। तथा जो जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।

जैसे देखो—सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि 'सय वेद द्वियाक्षर्य का ही प्रतिपादन करते हैं।'

यह उनकी धान मिथ्या है। इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में मन्त्रों से लिख चुके हैं, सो देख लेता।

ऐसे ही ( इन्द्र मित्र० ) सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से गिनाया है। क्योंकि उन ने इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर, इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं। यह उन को बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुन दूसरे दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक बार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहाँ जहाँ एक के सैकड़ों या हजारों विशेषण होते हैं, वहाँ वहाँ भी विशेष्य का सैकड़ों या हजारों बार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य ने नहीं जानी। इससे उन की यह भ्रान्ति सिद्ध है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—( इममेतानि० )। वहाँ अग्नि और इन्द्रादि नाम एक मद् परतु ब्रह्म हो के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

ऐसे ही सायणाचार्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तथा उनमें—'सय मन्त्रों से परमेश्वर का प्रहण कर रक्खा है। जैसे



राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है, अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है, उसी रूप से ईश्वर स्थित है ।'

यह सायणाचार्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है । क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं, उस को किस लिये ग्रहण किया है ?

और कदाचित् कोई कहे कि—जो सायणाचार्य ने वहाँ इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो, तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता ।

इसका उत्तर यह है कि—जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ कभी नहीं हो सकता । क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीरसम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है । इससे सायणाचार्य का कथन सत्य नहीं हो सकता । इसी प्रकार सायणाचार्य ने जिस जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा ।

**भाष्यम्—**एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवर्णं [ विवरणं ? ] कृतं, तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते—

**भाषार्थ—**इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त धिक्कृत व्याख्यान किया है । उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहाँ भी दिखलाते हैं—

गणानां त्वा गणपतिः हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिः हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिः हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजसि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजुः० अ० २३ । मं० १६ ॥

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तम्—‘अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति । तत्रथा महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते । शयाना सत्याह—हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य क्षिपामि । त्वं च गर्भधं रेतः आ अजसि आकृष्य क्षिपसि’ ॥ [ १ ] ॥

**भाषार्थ—**( गणानां त्वा० ) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि—गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है । सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि ‘सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व !

जिमसे गर्भधारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य है उसको मैं तैच के अपनी योनि में डालूँ, तथा तू उस वीर्य को मुझ में स्थापन करनेवाला है ॥ [ १ ] ॥

अथ सत्योऽर्थः—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यं, गदा वै वृहस्पतिर्ब्रह्मणैर्वनं तद्विपज्यति, प्रथय यस्य सप्रथय नामेति ॥

ऐत० ५० १ । क० २१ ॥

प्रजापतिषं जम्दग्निः सोऽधमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विहितरे पशवः ॥  
क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्विरण्यम् ॥ ज्योतिषं हिरण्यम् ॥

स० वा० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । क० १५, १५, १७, १६ ॥

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जमा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जमा वेद ॥

स० का० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । व० १ ॥

राष्ट्रमधमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनु-  
वर्त्तमानं करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अथः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्विरण्यं, क्षत्रमेव  
तत्क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥

स० वा १३ । अ० २ । ब्रा० २ । क० १६, १५, १७, १६ ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति । पन्थः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा  
एतदनेऽन्येवास्मै हनुमतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका  
एभिरेवैनं लोकेर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति पद् सम्पद्यन्ते, पद् वा कृतव  
ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते,  
नरकृत्यः परियन्ति, नव वै प्राणाः, प्राणानेशात्मन्दधते, नैम्यः प्राणा  
अपश्रान्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजामि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव  
पशूनात्मन्धते ॥ [ १ ] ॥ स० वा० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । क० ५, ५ ॥

भाष्यम्—( गणानां त्वा० ) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थममृहानां  
गणपतिं पालयं स्वामिनं ( त्वा ) त्वां परमेधरं ( हवामहे ) गृहीमः । तथैव सर्वेषां  
प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूजयत् । एतमेव निधीनां  
विधातृनादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूजयत् । वस्तुत्यस्मिन् सर्वे जगद्धा यत्र वसति

स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वरपरत्वम् । सर्वान् कार्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्धातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम् । ( आ त्वमजासि ) हे भगवन् ! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैधातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोऽस्तीति ।

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—( ब्राह्मणस्पत्यं० ) अस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा संत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च, प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्चते स सप्रथस्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति ।

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन, 'जमदग्निसंज्ञो'ऽस्ति ।

अत्र प्रमाणम्—

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥

निह० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम्—इमे सूर्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । तैः सूर्यादिभिः कार्यैस्तन्मियमैश्च कारणारूप ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः ( सोऽश्वमेधः ) स एव परमेश्वरो-ऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः ।

अथापरः—अत्र वाधो विहितरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्वलैव भवति । तस्य राज्यस्य, यद्विरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते ।

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया' स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्तु ईश्वरानुग्रहेणैव जानाति । 'अथो यत ईश्वरो वा अथः' ॥ श० कां० १३ ।

अ० ३ । श० ३ । क० ५ ॥ अस्तुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽथ ईश्वरः । इत्युक्तत्वा-  
दीश्वरस्यैवाप्राप्त्यमंशास्तीति ।

अन्यच्च ( राष्ट्रं वा० ) राज्यमश्वमेधमंशं भवति । तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि  
ज्योतिर्दधाति । उत्कर्मफलं सत्राय राजपुरुषाय मरति । तच्च स्मसुखापैव विशं  
प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तप्रानामनुकूलां करोति । अथो इत्यनन्तरं सत्रमेवाश्वमेधमंशकं  
भरति । तस्य यद्विरण्यमेतदेव रूपं भवति । तेन हिरण्याश्रन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव  
सन्त्यग् वर्धते, न च प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धपति ।  
अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात्प्रजामचयैव  
राज्यप्रबन्धः कार्य इति ।

( गणानां० ) विद्योऽप्येनं, राज्यपालनाय, विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं  
यज्ञं, परितः सर्वतः प्राप्नुयुः । प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति,  
अनः कारणादेतदेनामामन्ये विद्वामो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं  
विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्वन्तुः । एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्वन्तुः ।  
एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणं च आत्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः  
पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति ।  
तस्मान्मनुष्यस्त्वं गर्भधं परमेश्वरमहमाज्ञानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । ( प्रजा  
वै पशवः० ) ईश्वरमाप्रार्थ्यगर्भात्मवै पदार्थो जाता इति योजनीयम् । परच परज्ञानं  
प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अन्वि सर्वत्र  
व्याप्नोति तन्मिन् जगदीश्वरे वर्धते इति, धारयति ॥ [ १ ] ॥

इति मन्त्रेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णिनः । अस्मान्महीधरस्यार्थो-  
ऽत्यन्तनिरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ—( गणानां व्या० ) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी  
व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है । जैसे ब्रह्म का नाम  
बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है । जैसे अन्धा बैरा रोगी को औषध  
देके दुःखों में अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी बेबोपदेश करके मनुष्य को  
विज्ञानरूप औषधि देके अविद्यारूपदुःखों से छुड़ा देता है । जो कि—'प्रथ' अर्थात्  
विस्तृत, मय में व्याप्त, और 'सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी  
व्यापक हो रहा है । इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथानु प्रतिपादन  
कर रहा है । ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी—राज्यपालन का नाम 'अश्वमेध', राजा

का नाम 'अश्व' और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न 'पशु' रक्खा है। राज्य की शोभा धन है, और ज्योति का नाम हिरण्य है।

तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उन को सब स्वर्गसुख देता है।

तथा ( राष्ट्रमश्वमेधः० ) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है। क्योंकि राजा ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है।

( गणानां त्वा० ) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म में मिथ्याचरण करती हैं, उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं, अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव बार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। ( आहमजानि० ) प्रजा के कारण का नाम 'गर्भ' है उस के समतुल्य वह सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को, अपने आत्मा में धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहें ॥ [ १ ] ॥

( गणानां त्वा० ) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है, ( त्वा ) उस को ( हवामहे ) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। ( प्रियाणां० ) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति, तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं। ( मिथीनां त्वा० ) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण से उस को 'वसु' कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब भूत्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आप का नाम 'गर्भध' है। ( आहमजानि ) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूँ। ( आ त्वा० ) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं, वैसे ही मुक्त को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। ( गर्भध ) दूसरी बेर 'गर्भध' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है ॥ [ १ ] ॥

यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस

सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदा का कितना अपमान कराया है, जैसे यह दोष स्पष्टित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

ता उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी  
रेतोधा रेतो दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३। म० २० ॥

महीधरस्यार्थः—‘अश्वशिशनग्रुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमेवा-  
श्वशिशनमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति’ ॥ [ २ ] ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—‘यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप  
ही अपनी योनि में डाल देवे ॥ २ ॥

सत्योऽर्थः—ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे  
लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुः संज्ञयन्ति । तस्मादेवमाह  
वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ [ २ ] ॥

त० का० १३। अ० २। आ० ८। क० ५ ॥

भाष्यम्—आषां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते  
भूत्वा सम्पक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुरप्रशेषे, लोके  
द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वात् । येन सर्वान्प्राणिनः सुरैराच्छादयेतहि ।  
यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावाभ्यामेव परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्ड-  
दानेन सम्पन्नबोधयन्ति, सैव एव सुरपुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति ।  
तस्मात्कारणादुभयस्य सुरायोग्ये विद्यादिमद्गुणानामभिरर्पकं वाजिनं विज्ञानमन्तं  
जनं प्रति विज्ञानले सततमेव दधात्वित्याहार्यं मन्त्रः ॥ [ २ ] ॥

भाषार्थ—( ता उभौ ) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम  
और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें । किस प्रयोजन के लिये ? कि  
दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये । जिससे हम  
दोनों परस्पर तथा मन्त्र प्राणिमा को सुख से परिपूर्ण कर देवे । जिस राज्य में मनुष्य लोग  
अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुरयुक्त होता है । इससे राजा और प्रजा  
परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुत्र की मदा सेवा करें, और विद्या तथा धर्म  
को सदा बढ़ावे । इस अर्थ का कहने वाला ‘ता उभौ’ यह मन्त्र है । इस अर्थ से महीधर  
का अर्थ अत्यन्त निरुद्ध है ॥ [ २ ] ॥

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति ।

आहन्ति गमे पसो निगल्गलीति धारका ॥ [ ३ ] ॥

य० अ० २३ । म० २२ ॥

महीधरो वदति—‘अध्वर्यादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । [ ( गमे ) ] भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः । यदा भगे शिरनमागच्छति, तदा ( धारका ) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः, ( निगल्गलीति ) नितरां गलति वीर्यं भरति, यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति’ ॥ [ ३ ] ॥

यकोसकौ० ॥ [ ४ ] ॥ [ य० अ० २३ । म० २३ ] ॥

‘कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह । अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह । अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते’ ॥ [ ४ ] ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—‘यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं । इस प्रकार से कि अङ्गुली से योनि को विश्रला के हंसते हैं । ( आहलगिति० ) जब स्त्री लोग जल्दी जल्दी चलती हैं, तब उन की योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य भरता है’ ॥ [ ३ ] ॥

( यकोसकौ० ) ‘कुमारी अध्वर्युं का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है’ ॥ [ ४ ] ॥

अथ सत्योऽर्थः—“यकासकौ शकुन्तिकेति । विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति । विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गमे पसो निगल्गलीति धारकेति । विड् वै गमो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः” ॥ [ ३-४ ] ॥ श० का० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । क० ६ ॥

भाष्यम्—( विड् वै० ) यथा श्वेनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्वला भवति, तथैव राज्ञः समीपे ( विट् ) प्रजा निर्वला भवति । ( आहलगिति वञ्चतीति ) राजानो विशः प्रजाः ( वै ) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति । ( आहन्ति० ) विशो गमसंज्ञा भवति, पसारुयं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति । यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धनं पीडां करोति,

यस्माद्राष्ट्री एको राजा मत्तयेचर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणादंको मनुष्यो राजा यदाचिन्नैव मन्तव्यः । किन्तु ममाध्यक्षः गवाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणाश्रितो विद्वान्स प्रजामी राजा मन्तव्यः । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधर-  
स्पातीमदुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम् ॥ [ ३-४ ] ॥

भाष्यार्थ—( यकासकौ० ) प्रजा का नाम शकुन्तिका है, कि कैसे बाज के सामने छोटी छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की । ( आहलुगिति० ) सहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां प्रजा ठगी जाती है । ( आहन्ति गमे पसो० ) तथा प्रजा का नाम 'गम' और राज्य का नाम 'पस' है । जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पक्षियों की हानि ही करता चला जाता है । इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं । इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होता चाहिये ।

'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगो के घनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ॥ [ ३-४ ] ॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः ।

प्रतिलामीति ते पिता गमे मुष्टिर्मतश्मयत् ॥ [ ५ ] ॥

य० अ० २३ । म० २४ ॥

महीधरस्यार्थः—'प्रजा महिषीमाह—महिषि हये हये महिषि ! ते तन माता, च पुनस्ते तन पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्जुस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गमे गमे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयचंसपति प्रसिपति । एवं उवोत्पचिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुत्स्थानेनालङ्करोति वा तन भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेनं नवोत्पचिः' ॥ [ ५ ] ॥

भाष्यार्थ—महीधर का अर्थ—'अन बड़ा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि—अन तेरी माता और पिता पलग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ते मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के अंग में डाला, तब तेरी उत्पत्ति हुई । उसने बड़ा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है' ॥ [ ५ ] ॥

अथ मत्पोऽर्थः—'माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताम्पामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । अथैव राष्ट्रस्याग्रं, त्रिपमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गमे मुष्टिमतश्मयदिति । विह वै गमो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविरयाहन्ति, तस्माद्राष्ट्री



विशं घातुकः” ॥ ५ ॥ श० का० १३ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० ७ ॥

भाष्यम्—( माता च ते० ) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति । ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति । सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताम्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । ( अग्रं वृक्षस्य० ) या श्रीविद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति । सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्रं मुखं सुखं च । ( प्रतिलामीति० ) विद् प्रजा गभारूपाऽर्थादैश्वर्यप्रदा, ( राष्ट्रं मुष्टी० ) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधर-स्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सत्य अर्थ—( माता च ते० ) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं । क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानवान् से परिहृत तथा परमात्मा सबके पालन करनेवाला है । इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं । ( अग्रं वृक्षस्य० ) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है । क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं । ( प्रतिलामीति० ) फिर प्रजा का नाम ‘गभ’ अर्थात् ऐश्वर्य की देनेवाली और राज्य का नाम ‘मुष्टि’ है । क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे । वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है, वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी [ है, उस ] को ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है । इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये । किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये । इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥ [ ५ ] ॥

‘ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय गिरौ भारं हरन्निव ।

अथास्यै मध्यमेघतां शीते वाते पुनर्निव ॥ ६ ॥ य० अ० २३ । मं० २६ ॥

महीधरस्यार्थः—‘यथा अस्यै अस्या वाताताया मध्यमेघतां योनिप्रदेशो  
वृद्धिं यायात् यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्वापयेत्यर्थः ।  
दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो  
धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः’ ॥ [ ६ ] ॥

यदस्या अश्वं भेदाः कृधु स्थूलमुपातसत् ।

मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ [ ७ ] ॥

य० अ० २३ । प० २८ ॥

‘यत् यदा अस्याः परिपृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिरनमुपातसत् उपगच्छत्  
योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपसये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि  
एजतः कम्पेते । लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्बृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः । तत्र  
दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णं गोरुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णं गोः पदे  
मत्स्यौ कम्पेते’ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—‘पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खेंच के  
बड़ा लेंगे । ( यदस्या अश्वं ) परिपृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है,  
जब छोटा या बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों  
अङ्गकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है । इस में महीधर  
दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के पुर के बने हुए गदे के जल में दो मच्छी नाचें, तथा  
जैसे रोनी करनेवाला मनुष्य अन्न और भुम अलग अलग करने के लिये चलते वायु में एक  
पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अङ्गकोश नाचा  
करते हैं ॥ [ ६-७ ] ॥

अथ सप्तोऽर्थः—“ऊर्ध्वमेनामुच्छ्वापेति । श्रीर्वै राष्ट्रमधमेघः थियमे-  
वास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति ॥ गिरौ भारं हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः,  
थियमेवास्मै राष्ट्रं संनद्यत्यथो थियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति ॥ अथास्मै  
मध्यमेघतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं थियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति ॥  
शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति ॥ [ ६-७ ] ॥

अ० का० २३ । अ० २ । अ० ६ । क० २-५ ॥

भाष्यम्—( ऊर्ध्वमेना० ) है नर ! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमधमेघो यज्ञथास्मै

१—ऊर्ध्वमिति सप्तपदे पाठ ॥ सं० ॥

राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय, सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । ( गिरौ भार५ हर० ) कस्मिन्किमिव, गिरिशिखरे प्राप्यथ भारवद्रस्तूपस्थापयन्निव । कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार, इत्यत्राह— 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार,' इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नद्धं सम्बध्य राष्ट्र-मनुत्तमं कुर्यात् । अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधि-निदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । ( अथास्यै० ) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकांक्षायामुच्यते— 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं' तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वा प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव, ( शीते वाते पुनन्निवेति ) राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्यात् । अस्मादपि सत्पादार्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ॥ [ ६-७ ] ॥

भाषार्थ—श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम 'अश्वमेध' है । ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं । ( गिरौ भार५ हर० ) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है । इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये । कि ( अथास्यै० ) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है । इस में दृष्टान्त यह है कि— ( शीते वाते० ) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम 'शीत' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है ।

प्र०—राज्य का भार कौन है ? उ०—( श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः० ) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुँचाती है । ( अथो० ) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं । ( अथास्यै० ) प्र०—उस राज्य का मध्य क्या है ? उ०—प्रजा की ठीक ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है । ( गिरौ भार५ हर० ) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है ॥ [ ६-७ ] ॥

यदेवासीं ललामर्भुं प्र विष्टीमिनुमार्विधुः ।

सुख्यन्ता दैदिश्यते नारीं सुत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ८ ॥

महीधरस्वार्थः—‘( यत् ) यदा ( देवामः ) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होरादयः श्रुतिजो, ( ललामगुं ) लिङ्गं ( प्र आविशुः ) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललाम सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिरनः, यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः । कीदृशं ललामगुं ( त्रिष्टीमिनं ) शिरनस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः । यदा देवाः शिरनत्रीहिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा ( नारी ) ( मन्थना ) कुरुणा कुरुम्यां ( देदिरयते ) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते । भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादुरुमात्रं लक्ष्यते । इयं नारीतीत्यर्थः’ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—५ यद्देवासो० ) जब तक यक्षशाला में श्रुतिज लोग येमा हुमते और अहकोश नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महीषी की योनि में काम करता है, और उन श्रुतिजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं, और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है । जब स्त्री पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है ॥ [ ८ ] ॥

अथ सत्योऽर्थः—( यद्देवामो० ) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं ( त्रिष्टीमिनं ) त्रिविधतया आर्द्राभावगुणयन्तं ( ललामगुं ) सुखप्रापकं निधानन्दं ( प्राविशुः ) प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुयन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्चमानेयं प्रजा देदिरयते । यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन मन्थना वर्चते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्पगाच्छादनीयेति ॥ [ ८ ] ॥

भाषार्थ—जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वसी आनन्द से प्रजा को भी मुक्त करते हैं । विद्वान् लोगों को चाहिये कि वैसे ही अपने जप आदि अङ्गों को यज्ञों से सदा ढाप रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश, विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥ [ ८ ] ॥

यद्देहिणो ययमस्ति न पुष्टं पशु मन्यते ।

शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय घनायति ॥ [ ९ ] ॥

य० अ० २३ । म० ३० ॥

भाष्यम्—महीधरस्वार्थः—‘सत्ता पालामलीमाह—शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न घनायते, पुष्टिं न इच्छति, मन्त्रार्प्या वैश्येन शूक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभि-

चारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः । ( यद्धरिणो० ) पालागली क्षचारमाह—  
यत् यदा शूद्रः, अर्यायै अर्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं  
नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति  
क्लिश्यतीत्यर्थः ॥ [ ९ ] ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—( यद्धरिणो० ) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी  
से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस  
बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई,  
किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो  
गई । ( यद्धरिणो० ) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की  
स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि  
मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीचे ने समागम कर लिया, इस बात को विचार के क्लेश  
मानता है ॥ [ ६ ] ॥

अथ सत्योऽर्थः—“यद्धरिणो यवमचीति । विड् वै यवो राष्ट्रे हरिणो  
विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विश्वमत्ति । न पुष्टं पशु मन्यत इति ।  
तस्माद्राजा पशून् पुष्यति । शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति ।  
तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति” ॥ [ ६ ] ॥

ख० कां० १३ । अ० २ । प्रा० ६ । कं० ८ ॥

भाष्यम्—( यद्धरिणो० ) विट् प्रजेव यवोऽस्ति । राज्यसम्बन्धेको राजा  
हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो  
भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय  
स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति । यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं  
दृष्ट्वा तन्मांसमक्षयेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते,  
तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदिति च्छा सदैव  
रक्षति । तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति । यथा  
च यदा शूद्रा अर्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न  
भवति । तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति,  
पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति,  
नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतो-  
ऽर्थोऽस्तीवविरुद्धोऽस्ति ॥ [ ९ ] ॥

भाषार्थ—( यद्वरिणो० ) यहां प्रजा का यय और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे गृध्र पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा ( न पुष्टं पशु मन्यन्० ) जैसे मासाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है। क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और गृध्र तथा बैश्य का अभिप्रेर करने से व्यवहार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी समाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ॥ [ ६ ] ॥

उत्सकथ्या अथ गुदं धेहि समञ्जि चारया वृषन् ।

य स्त्रीणां जीव भोजनः ॥ [ १० ] ॥ य० अ० २३ । म० २१ ॥

महीधरस्याथः—‘यजमानोऽथमभिमन्त्रयते । हे वृषन् ! सेक्तः अथ ! उत्तुर्ध्वं सन्धिनो ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गुदमग्नं गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्यं धारय । कथम् ? तदाह अञ्जि लिङ्गं सञ्चारय योनीं प्रवेशय । योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः । यस्मिन् लिङ्गे योनीं प्रविष्टे स्त्रियो जीरन्ति भोगाश्च लभन्ते तं प्रवेशय’ ॥ [ १० ] ॥

भाषार्थ—( उत्सकथ्या० ) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—‘यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अथ ! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे, अर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है, कि जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उन्हीं से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे’ ॥ [ १० ] ॥

अथ सत्योऽर्थः—( उत्सकथ्या० ) हे वृषन् सर्वकामानां वर्णयितः प्रापक ससमाध्यक्षनिद्वन् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय । ( य स्त्रीणां जीवभोजनः ) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमग्नगुदमघः—धिरसं कृत्या तादयित्वा कालग्रहे [= कारागृहे ] धेहि । यथा स्त्रीणां मध्ये या काचिद् उत्सकथी व्यवहारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय ॥ [ १० ] ॥

भाषार्थ—( उत्सकथ्या० ) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले समाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो ! तुम सब एक सम्मति

होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्वशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ॥ [ १० ] ॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य 'वेददीपा'ख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति । यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते । यदि ह्यार्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति, तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानामनर्थगतेस्तु का कथा ? एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम् ।

नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुं मार्घ्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्माच्चद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्पे मिथ्यात्वमस्ति । तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ।

[ इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः ]

आगे कहाँ तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायेंगे, और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है ! तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसार व्याख्यान किये हैं । इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है ।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वर रचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा, और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय ज्ञान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में ज्ञान लेना।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषयः समाप्तः ॥

---



## अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते । परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तच्चदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापचेरचेति । तस्माद्युक्तिसिद्धौ वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ।

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः ? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधानिष्पत्त्युपकारौ गृह्येते, तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः ? मूलाभावे शास्त्रादीनामप्रवृत्तेः ।

एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वाद् न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । 'स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चम धैवतनिषादाः ॥ १ ॥' पिङ्गलशास्त्रे, अ० ३ । सू० १४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः ? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति ।

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तच्चदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वात्यन्ता

प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धिं च सत्यार्थ-  
प्रकाशेन यत्सायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके  
प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रमिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा  
यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनि-  
महर्षिमहामुनिभिरार्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिपुस्तकप्रमाणान्विते मया कृते  
भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते ।

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यापहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः  
रत्नेपालद्वारादिना सप्रमाणः सम्भरोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वारार्थौ विधास्येते । परन्तु  
नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः ? निमित्तकारणस्येश्वर-  
स्यास्मिन् कार्य्यं जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र  
एतलु व्यापहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वरचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादि-  
द्रव्याणां सद्भावाच्च । एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्याऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ  
आगच्छतीति ।

[ इति प्रतिज्ञाविषय सञ्ज्ञेपत ]

भाषार्थ—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन  
करेंगे । परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ जहाँ जो जो कर्म  
अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तर्पर्यन्त करने चाहिये, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया  
जायगा । क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथदि ब्राह्मण, पूर्व-  
मीमांसा, श्रौत और श्रृङ्खलादि में कहा हुआ है । उसी को फिर कहने से पैसे को  
पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता  
है । इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है,  
अयुक्त को नहीं ।

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, साख्य,  
वेदान्तशास्त्र और उपनिषद् की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना । परन्तु केवल  
मूलमन्त्रों ही के अयानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये ।  
क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वतः प्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं,  
और जो जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं,  
ऐसे न हों तो नहीं ।

ऐसे ही व्याकरणदि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति  
आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का  
ज्ञान अवश्य करना चाहिये । जैसे 'अग्निमीळे' यहाँ अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न,  
'ग्नि' उदात्त है, इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है, 'मी' के ऊपर स्वरित का

चिह्न है, 'डे' में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना। इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे, वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायेंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनाता होती है। इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायेंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

इस भाष्य में पद पद का अर्थ पृथक् पृथक् क्रम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा। तथा जो जो सायण, माधव, महीधर और अङ्गरेजी वा अन्य भाषा में उल्लेख वा भाष्य किये जाते वा गये हैं, तथा जो जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं—उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा। क्योंकि बिना सत्यार्थ-प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ॥

# अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?

उत्तरम्—भिन्नभिन्नविधाज्ञापनाय ।

प्र०—कास्ताः ?

स०—त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यममिलम्बित-  
मेदयुक्तत्वात् । यावत् कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः,  
प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु  
संहितासु पाठः कृतोऽस्ति । तथा—‘अग्निस्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति । सामभि-  
र्गायन्ति ।’ अग्न्येवे सूर्याणां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे निदित-  
गुणानां पदार्थानां सकृदात् क्रिययाऽनेकनिधोपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति,  
तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घनिचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः ।  
एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो निहितोऽस्ति तस्य  
पूर्विकरणेन रक्षणोन्नती निहिते स्तः । एतदप्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ।

प्रश्नः—वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ?

उत्तरम्—यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन  
सुगमतया तत्रस्था विद्या निदिता भवेदुत्तरदर्थं मंहिताकरणम् ।

प्र० — वेदेष्वेकमण्डलाध्यायसूक्तपट्क्कण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुनाक-  
विधानं किमर्थं कृतमस्ति ? इत्यत्र ब्रूमः—

उ०—भ्राष्ट्रकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्र-  
परिगणनं, प्रतिमित्रं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति ।

प्र०—किमर्था अग्न्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमंख्याक्रमेण  
परिगणिताः सन्ति ? इत्यत्रोच्यते—

उ०—न यावद् गुणगुणितोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः  
प्रीतिश्च, न चाम्पां विना प्रयुक्तिर्भवति, तथा विनासुखामाप्नुयेति । एतद्विद्याविधा-  
यस्नाह्यवेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति । एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं  
त्रिषयोपकारेण सर्वजगदितसम्पादनं कार्यं भवति, यजुर्वेदे एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्

द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्यैतन्तर्गतविधानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति ।

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविधारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । 'ऋच स्तुतौ,' 'यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु,' 'साम सान्त्वने,' 'थो अन्तर्कर्मणि,' 'थर्वतिश्वरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' ॥ निरु० अ० ११ । जं० १८ ॥ 'चर संशये,' अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ?

उ०—भिन्न भिन्न विद्या जनाने के लिये । अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि—उदात्त और बहुजावि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना, जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है । दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है । तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में । फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है । परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है, इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं ।

तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे । तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है, इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है ।

ऐसे ही 'ऋग्भिस्तु०' ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके । क्योंकि बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता, और आरम्भ के बिना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है । इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है ।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है । क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है । जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले । क्योंकि जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय, तबतक उसका अच्छी प्रकार

भेद नहीं सुलभ सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है, एक—आत्मा और दूसरा—शरीर का। अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है, इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।

प्र०—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं ?

उ०—जयतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता तब पर्यन्त उन में प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और इस के बिना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता या, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके, इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी बार की है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिये उस को तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं, उन सब के शेष भाग की पूर्ति विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है।

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान, इनकी उन्नति, तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके सरया बांधी है। क्योंकि ( ऋच स्तुतौ ) ( यज्ञ देव-पूजासङ्गतिकरणदानेषु ) ( पो अन्तर्कर्मणि ) और ( साम सान्त्वप्रयोगे ) ( धर्वातिश्चर-तिकर्मा० ) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार सक्षा रक्षायी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

प्र०—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है ?

उ०—विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है, उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में हैं।

प्र०—अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क, काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं, ये किसलिये हैं ?

उ०—इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती बिना कठिनता के जानली जाय, तथा सब विद्याओं के पृथक् पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्यान्वयहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं ।

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते ?

उत्तरम्—यतो वेदानामीश्वरोक्तचयनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्र-  
स्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तद्वेषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः ?  
यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकार-  
स्मरणार्थं तन्नामल्लेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः । अत्र प्रमाणम्—

‘यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पावाग्भवतीति  
वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञद्वैते पुष्पफले  
देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य  
उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुर्गुणदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु-  
वेदं च वेदाङ्गानि च । विल्म भिलमं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो  
धातवो, धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्यै नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं,  
नैघण्डुकमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति । तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्डुकं  
तत् ॥ [ १ ] ॥ निघ० ख० १ । खं० २० ॥

[ भाष्यम्— ] ( यो वाचं० ) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने  
करोति तदफलं भवति ।

प्रश्नः—वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह—

उत्तरम्—विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् ।

य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते ? साक्षात्कृतधर्माणः ।  
यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो  
मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थाश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै

प्रयोजनाय ? , उचरोच्चरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनावेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्पगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेक-  
स्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाशयते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति ॥ [ १ ] ॥

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्पिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋपेरैकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोन्लेखः कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, सः सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाशयते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तच्चद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति, तच्चदर्थं षड्जादिस्वरोन्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

भाषार्थ—प्र०—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं ?

उ०—ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे । फिर उनमें से जिस जिस मन्त्र का अर्थ, जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है । इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है । और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं ।

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

( यो वाच० ) जो मनुष्य अर्थ को समझे बिना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । प्र०—वाणी का फल क्या है ? उ०—अर्थ को ठीक ठीक जान के उम्मी के अनुसार व्यवहारों में प्रयुक्त होना वाणी का फल है । और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षान् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं । इसलिये जिन्होंने सब विद्यार्थों को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे । जिन्होंने



अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। प्र०—किस प्रयोजन के लिये ? उ०—वेदप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लें, इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं, कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें। 'निघण्टु' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्मवाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और 'निरुक्त' उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है ॥ १॥

और जिन जिन मन्त्रों में जिन जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये। अर्थात् जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय। इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

ऐसे ही जिस जिस मन्त्र का जो जो छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये, इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान विद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

प्र०—वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति ?

उ०—पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं, विद्यासंग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा—अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते, तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तवलवत्त्वादि-गुणा वायुशब्देन प्रकाशयन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्च्छद्रव्याधारकत्वाच्चदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते। एतदर्थ-मिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति।

अग्निशब्देन शिन्धुविद्यायां यानचालनादिविद्यान्यवहारे जलाग्निपृथिवी-  
प्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति, एतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमग्निशब्दप्रयोगो  
वेदेषु कृतोऽस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूप-  
वेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजना-  
याग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिक-  
शब्दार्थन्यवहारज्ञानं सर्वमनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विश्वाप्यते ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों में अनेक बार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का  
प्रयोग किमलिये किया है ?

उ०—पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये, अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो  
मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग  
पूर्वापर सम्बन्ध से किया है । क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने  
ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी  
व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके । फिर इसी अग्नि शब्द  
से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु  
होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है ।

तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का  
प्रकाश जनाने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया गया है । तथा शिल्पविद्या में अग्नि  
का सहायकारी और मूर्च्छद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है, इसलिये प्रथम  
सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है । तथा ईश्वर के अनन्त गुण  
विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विशाल तथा शिल्पविद्या से उत्तम  
ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि  
अग्नि और वायु की विद्या ने मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशल आदि बनाने की युक्ति  
ठीक ठीक जान पड़ती है ।

तथा अग्निशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है  
कि उसमें ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो । क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि  
यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं ।  
अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त  
प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं । इसलिये अग्निशब्द का पाठ तीसरे सूक्त  
और चौथे स्थान में किया है । तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है,  
कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के  
हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे  
सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है । इसी प्रकार सर्वत्र  
ज्ञान लेना ।

भाष्यम्—प्र०—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्द-प्रयोगो नैव कृतोऽस्ति ?

उ०—‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्’ इति महाभाष्य-कारेण पतञ्जलिमहामुनिना ‘लप्’ इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्ति-र्भवतीति । कुतः ? वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्या-ख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति । तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्मवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिदोषो भवतीति । अन्यथा क्रीटिशः श्लोकैस्तद्वत्तैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्प-ग्रन्थैश्च भवतीति मत्त्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठन-पाठनव्यवहारेणान्यपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेदुरिति ।

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः ? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अप्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिता, इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति, सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते ।

[ इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः ]

भाषार्थ—प्र०—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये । और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहाँ जहाँ होना चाहिये था, वहाँ वहाँ उसी का ग्रहण करते, कि जिससे कभी किसी को भ्रम न

होता। अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था।

७०—यूँ तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी बिना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी किसी की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्यवाची शब्दों का ही प्रयोग करते, तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बर्तन जाने का संभव था। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातों सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है, कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

इसी मुख्य हेतु से मय के सुरार्थ परमकर्णामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो जो विद्या हैं, उनमें से कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उपदेश है, सो सो उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथायन् प्रकाशित कर देंगे।

[ इति प्ररनोत्तरविषय संक्षेपतः ]

# [ अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः ]

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्भुज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥ अथ प्रत्यक्षकृता मध्यम-पुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ नि० अ० ७ । ख० १ । २ ॥

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषु उत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यम-पुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षा-स्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति ।

अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिक-शब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुष-प्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमाश्रमेव प्रयोजनमिति ।

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्बृहदारण्यकदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

[ इति संक्षेपतो वैदिकप्रयोगविषयः ]

भाषार्थ—अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—( तास्त्रिविधा ऋचः० ) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई

परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को । उनमें से परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले सो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष, अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया के अस्ति, भवति, करोमि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं । तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष, अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं । तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है ।

यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं । अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं । सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है । परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है । और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने ससारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है ।

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेश वासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्याया कर दिया है, सो यह उनकी भूल है । और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है ।

[ इति वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः ]

# [ अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः ]

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते । ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति । तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते ।

“स्वयं राजन्त इति स्वराः । आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामो मात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रुक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि<sup>१</sup> शब्दस्य । अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि<sup>२</sup> शब्दस्य । अन्ववसर्गो मात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । त्रैस्वर्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्झिभरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयाभाख्यां लभते—कन्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयाभाख्यां लभते स्वरित इति । ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे<sup>३</sup> सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः, उदात्तरः, अनुदात्तः, अनुदात्तरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः ॥” अ० १ । पा० २ । [ आ० १ ] ‘उच्चैरुदात्त’ इत्याद्युपरि ॥

तथा षड्जादयः सप्त—[ स्वराः ] षड्जश्रवणभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवत-निषादाः ॥’ पिङ्गलसूत्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेद-प्रसिद्धा ग्राह्या । अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

[ इति संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः ]

१—महाभाष्य मे उपलब्ध पाठ—अणुता खस्य, ॥ सं० ॥

२—उदात्तविधायकानीति यावत् ॥

३—अनुदात्तविधायकानीति यावत् ॥

४—भतिषायांद्योतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे ॥

भाषार्थ—अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं—जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं। अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिएलये हैं, उनको कहते हैं—

‘( १२यं राजन्त० ) आप ही अर्थात् जो कि बिना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, ये स्वर कहते हैं। ( आयासः ) अङ्गों का रोकना, ( दारुण्यं ) वाणी को रूपा करना, अर्थात् ऊँचे स्वर से धोलना, और ( अणुता ) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं। अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल, धोला जाता है। तथा ( अन्वव० ) गात्रों का ढीलापन, ( मार्दव० ) स्वर की कोमलता, ( उरुता ) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं। ( त्रैश्वर्य्येणा० ) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से धोलते हैं। अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाली वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखानेवाले ‘तरप्’ प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति ॥’

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये।

अब षड्जादि स्वरों को लिखने हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं—( स्वराः षड्जऋषभ० ) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गान्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये। यहा ग्रन्थ धृष्ट जाने के कारण नहीं लिखते।

[ इति स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः ]



# [ अथ व्याकरणनियमविषयः ]

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा—

वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १।१।१॥

‘उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा—समुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति’ इति भाष्यवचनम् ।

अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥ १ ॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १।१।५६॥

‘प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या’ इति भाष्यम् ॥

अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम् ॥ २ ॥

न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १।१।४८॥

‘अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः’ इति भाष्यसूत्रम् । लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ [ ३ ] ॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १।२।४९॥

‘बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसुल इति । एकश्च शब्दो बह्वर्थः तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः,’ सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः । यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थ-वाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥ [ ४ ] ॥

ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १।४।५०॥

‘छन्दसि परव्यवहितवचनं च ।’ अनेन वार्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति । यथा आयातमुपनिष्कृतम्, उपप्रयोमिरागतम् ॥ [ ५ ] ॥

भाषार्थ—अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं, उनको यहां लिखते हैं—( उभ० ) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे 'ऋक्वता' इस शब्द में पद संज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ ॥ [ १ ] ॥

( प्रातिपदिक० ) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिम् विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिम् विभक्ति से शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ घनता हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये ॥ [ २ ] ॥

क्योंकि—( अर्थग० ) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें ? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है ॥ [ ३ ] ॥

( यह्यो हि० ) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, घामु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं। अर्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं ॥ [ ४ ] ॥

( छन्दसि० ) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे 'उप प्रयोभिरागतं' यहाँ 'आगत' क्रिया के भाय 'उप' लगता तथा 'आयातमुप०' यहाँ 'उप' 'आयात' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ॥ [ ५ ] ॥

चतुर्थीर्धे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २।३।६२ ॥

'पृथग्र्ये चतुर्थी पक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति, तस्या इति प्राप्ते ।' एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थीर्धे पृष्ठी पृथग्र्ये चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोबन्धत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥ [ ६ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ७ ॥ अ० २।४।३६ ॥

अनेन अद्घातोः स्थाने घम्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्म्लृ सन्धिश्च मे, अत्तामघ मध्यतो मंद उद्भृतम्, इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥ [ ७ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २।४।७३ ॥

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । घृत्रं हनति, अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति—ब्राध्वं नो देवाः ॥ [ ८ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २।४।७६ ॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि; धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टि; जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्पुदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ॥ [ ९ ] ॥

भाषार्थ—( या खर्वेण० ) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी, विभक्ति के स्थान में चतुर्थी होजाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं । इस में ब्राह्मणों के वंदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके, अर्थात् इनमें जो व्याकरण के कार्य हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ होजाय ॥ [ ९ ] ॥

( बहुलं० ) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में चरल आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है ॥ [ ७ ] ॥

( बहुलं० ) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता । जैसे 'घृत्रं हनति' यहां 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'ब्राध्वं०' यहां ब्रैह् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया । महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है । शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् होगया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते । ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना ॥ [ ८ ] ॥

( बहुलं० ) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी होजाता है । जैसे 'दाति०' यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहां प्राप्त नहीं फिर [ भी ] होगया ॥ [ ९ ] ॥

भाष्यम्—सिन्वहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३।१।३४ ॥

'सिन्वहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः ।' [ वा० ] सविता धर्म साविपत्, अण आयूपि तारिपत् । अयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥ [ १० ] ॥

छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३।१।५४ ॥

‘शायच्छन्दसि सर्वत्रोति वक्तव्यम् ।’ [ वा० ] क्व सर्वत्र ? हां चाहौ च । किं प्रयोजनम् ? महीः अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्गभायत्, उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ [ ११ ] ॥

व्यत्ययो गृह्यलम् ॥ १२ ॥ अ० ३।१।८२ ॥

सुतिदुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलस्वरकर्तृयडां च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृतेषां सोऽपि च सिध्यति गृह्यलेने ॥ १ ॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन विकरणव्यत्ययः, सुपां व्यत्ययः, तिडां व्यत्ययः, वर्णव्यत्ययः, लिङ्गव्यत्ययः, पुरुषव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, आत्मनेपदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्ययः, स्वरव्यत्ययः, कर्तृव्यत्ययः, यङ्गव्यत्ययश्च ।

एषां व्रमेणोदाहरणानि—युक्ता मातासीद्भुवि दक्षिणायाः, दक्षिणायामिति प्राप्ते । चपालं ये अधयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते । त्रिन्दुभौजः शुभितमुप्रवीरम्, शुभितमिति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते । अधा स वीरर्दशमिर्वियूयाः, वियूयादिति प्राप्ते । श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यटेति प्राप्ते । ब्रह्मचारिणमिच्छते, इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्घुष्यति, घुष्यत इति [ प्राप्ते ] । आधाता यटेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ । व्यत्ययो भवति, स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो निहितः ॥ [ १२ ] ॥

गृह्यलं छन्दमि ॥ १३ ॥ अ० ३।२।८८ ॥

अनेन चित्रप्रत्ययो वेदेषु गृह्यलं विधीयते । मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि ॥ [ १३ ] ॥

छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३।२।१०२ ॥

वेदेषु सामान्यभूते लिट् विधीयते । अहं यात्रापृथिवी आततान् ॥ [ १४ ] ॥

लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३।२।१०६ ॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्नि चिक्रयानः,

अहं सूर्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥ [ १५ ] ॥

क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३।२।१०७ ॥

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान्, जग्मिवान् । न च भवति—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ॥ [ १६ ] ॥

क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३।२।१०८ ॥

क्यप्रत्ययान्ताद्धातोरञ्जन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः, संश्वेदयुः, सुम्नयुः । 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति' इत्यनया परिभाषया क्यञ्क्यङ्क्यर्षा सामान्येन ग्रहणं भवति ॥ [ १७ ] ॥

भाषार्थ—( सिञ्जहुलं० ) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके शिस्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आवि कार्य होसकें । जैसे—'साविष्त्' यहां सिप् को शिप् मानके वृद्धि हुई है । यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है ॥ [ १० ] ॥

( शायच्छन्दसि० ) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे [रहने पर] 'आ' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ॥ [ ११ ] ॥

( व्यत्ययो० ) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलि ने नव प्रकार से माना है । वे सुप् आदि ये हैं—सुप्, तिङ्, वर्य; लिङ्—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और तृप् सकलिङ्ग; पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम; काल—भूत, भविष्यत् और वर्तमान; आत्मनेपद और परस्मैपद; वर्य—वेदों में अर्चों के स्थान में हल् और हलों के स्थान अच् के आदेश हो जाते हैं; स्वर—उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय, और यङ् का व्यत्यय, होते हैं । इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहां देख लेना ॥ [ १२ ] ॥

( बहुलम्० ) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है ॥ [ १३ ] ॥

( छन्दसि० ) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य मूतकाल में भी होता है ॥ [ १४ ] ॥

( लिटः का० ) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है । इस के 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं । 'छन्दसि०' इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि 'परोक्षे लिट्' इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश होजावे ॥ [ १५ ] ॥

(क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है ॥ [ १६ ] ॥

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से ‘उ’ प्रत्यय हो जाता है ॥ [ १७ ] ॥

भाष्यम्—कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३।३।११३ ॥

कृत्यल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकार्थम्, पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ [ १८ ] ॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३।३।१२६ ॥

ईपदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ०—भूपसदनोऽग्निः ॥ [ १९ ] ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३।३।१३० ॥

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ०—सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ [ २० ] ॥

छन्दसि लङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ अ० ३।४।१६ ॥

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०—लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ्—अग्निमद्य होतारमघृणीतायं यजमानः । लिट्—अद्य ममार ॥ [ २१ ] ॥

लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३।४।१० ॥

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेष्वर्धमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति । उ०—जीवाति शरदः शतम्, इत्यादीनि ॥ [ २२ ] ॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३।४।१८ ॥

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ०—उपसंवादं—अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायाम्—नेज्जिज्ञायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥ [ २३ ] ॥

लेटोऽडाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३।४।१४ ॥

लेटः पर्यायेण अट् आट् आत्मौ भवतः ॥ [ २४ ] ॥

आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३।४।६५ ॥

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेढादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ०—मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे ॥ [ २५ ] ॥

वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३।४।६६ ॥

‘आत ऐ’ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट् एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ०—अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ [ २६ ] ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३।४।६७ ॥

लेट्ः स्थान आदिष्टस्य तिवादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ०—तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम् । एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेट् विषये बोध्यम् ॥ [ २७ ] ॥

स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३।४।६८ ॥

लेट् उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ॥ २८ ॥

भावार्थ—( छन्दसि० ) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है ॥ [ १६ ] ॥

( अन्वेभ्यो० ) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे ‘सुदोहनं’ यहां सुपूर्वक ‘दुह’ धातु से युच् प्रत्यय हुआ है ॥ [ २० ] ॥

( छन्दसि० ) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लृक्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं ॥ [ २१ ] ॥

( लिङर्थे० ) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहां लिखते हैं । यह लेट् लकार वेदों में ही होता है । सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें तथा वपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है ॥ [ २२-२३ ] ॥

( लेटो० ) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं, अर्थात् जहां अट् होता है, वहां आट् नहीं होता, जहां आट् होता है वहां अट् नहीं होता ॥ [ २४ ] ॥

( आत ऐ ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के ‘आतां’ के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है । जैसे ‘मन्त्रयैते’ यहां आ के स्थान में ऐ होगया है ॥ [ २५ ] ॥

( वैतोऽन्यत्र ) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होवा है, उसके स्थान में [ विकल्प से ] ऐकार आदेश होजाता है ॥ [ २६ ] ॥

( इतश्च० ) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है ॥ [ २७ ] ॥

( स उक्त० ) इस मूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस् मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ॥ [ २८ ] ॥

यद् लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पद के जान सकता है, अन्यथा नहीं ।

तुमर्थे सेमेनसेअसेन्सेकमेनध्वैअध्वैन्कध्वैकध्वैन्शध्वैशध्वैन्तवैतवेड्-  
वेनः ॥ २६ ॥ अ० ३।४।६ ॥

धातुमात्राचुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्वै, अध्वैन्, कध्वै, कध्वैन्, शध्वै, शध्वैन्, तवै, तवेड्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति ।

‘कृन्मेजन्त’ [ अ० १।१।३८ ] इति सर्वेषामन्ययत्वम् । सर्वेषु नकारोऽ-  
नुबन्धः स्वरार्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः, ङकारोऽपि । शकारः शिदर्थः । से-  
वत्तेण्यः; सेन्-तावामेपे स्थानाम्; असे असेन्-कृत्वे दक्षाय जीवसे; कसे कसेन्-  
ध्रियसे; अध्वै अध्वैन्-कर्मण्युपाचरध्वै; कध्वै-इन्द्राग्नी आहुवध्वै; कध्वैन्-  
ध्रियध्वै; शध्वै शध्वैन्-पिबध्वै, सहमादयध्वै; अत्र शित्वात् पिबादेशः; तवै-  
सोममिन्द्राय पातवै; तवेड्-दक्षमे मामि हृतवै; तवेन्-त्वदेवेषु गन्तवै ॥ २९ ॥

शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३।४।१२ ॥

शक्नोती धाताशुपपदे धातुमात्राचुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः ।  
णकारो वृद्धयर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वरार्थः । अग्नि वै  
देवा विभाजं नाशक्तुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥ [ ३० ] ॥

ईश्वरे तोमुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३।४।१३ ॥

ईश्वरशब्द उपपठे वेदे तुमर्थे वर्चमानाद्वातोस्तोमुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः ।  
ईश्वरोभिचरितो; कसुन्-ईश्वरो विलिखः ॥ [ ३१ ] ॥

कृत्यार्थे तवैकेकेन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३।४।१४ ॥



कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च । तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति । तवै—परिधातवै; केन्—नावगाहे; केन्य—दिदृक्षेण्यः, शुश्रूषेण्यः; त्वन्—कृत्वं हविः ॥ [ ३२ ] ॥

भाषार्थ—( तुमर्थे० ) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं ॥ [ २६ ] ॥

( शक्ति० ) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं । इसके होने से 'बिभाजं' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ [ ३० ] ॥

( ईश्वरे० ) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोमुन्' 'कमुन्' ये प्रत्यय होते हैं ॥ [ ३१ ] ॥

( कृत्यार्थे० ) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं । इससे 'परिधातवै' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ [ ३२ ] ॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २६ ॥

अन्तान्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः षञ्चदाम्नी; एकदाम्नी ॥ [ ३३ ] ॥

नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ [ ३४ ] ॥

भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥

सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेऽपि भवन्ति । मेधायं च विद्युत्याय च नमः ॥ [ ३५ ] ॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वगमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ।

बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ ॥

वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा—भूमादयः—

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । १५४ ॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

सम्बन्धे'ऽस्तिविशेषायां भवन्ति मतुवादयः ॥

अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुवादयो भवन्तीति बोध्यम् ।

( बहुलं ) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ [ ३६-३७ ] ॥

अनसन्तान्पुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५।४।१०३ ॥

'अनसन्तान्पुंसकाच्छन्दसि [ टच् प्र० ] वेति वक्तव्यम्' । ब्रह्मसामं, प्रक्षसामं; देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ॥ [ ३८ ] ॥

सन्पडोः ॥ ३९ ॥ अ० ६।१।१२ ॥

'बह्वर्था' अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा—यपिः प्रकरणे' दृष्टश्चेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति' । ईडिः स्तुतिचोदनायां चासु दृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते । अग्निर्ग ईतो घृष्टिर्मेट्टे' मस्तोऽमुतश्चावपन्ति । करोतिरयमभूत-प्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मूलीकरणे' चापि वर्त्तते, पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपगेऽपि वर्त्तते', कटे कुरु, घटे कुरु । अश्मानामितः कुरु, स्थापयेति गम्यते ।'

एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विश्राव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति । त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दक्षितत्वात् ॥ [ ३९ ] ॥

शेरच्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६।१।७० ॥

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शैलोपो बहुलं भवति । यथा—विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥ [ ४० ] ॥

बहुलं छन्दमि ॥ ४१ ॥ अ० ६।१।३४ ॥

१-महाभाष्य मे उपलब्ध पाठ—सप्तर्थे ॥ ४० ॥ २-महाभाष्य मे उपलब्ध पाठ—भवन्तीति ॥ ४० ॥

३- " " —प्रचिरेणे ॥ ४० ॥ ४- " " —वपतीति ॥ ४० ॥

५- " " —घृष्टिर्मेट्टे ॥ ४० ॥ ६- " " —निर्मलीकरणे ॥ ४० ॥

७- " " —निक्षेपे चापि दृश्यते ॥ ४० ॥

८-अ० ६।१।६८ ॥ ४० ॥ ९-अ० ६।१।३३ ॥ ४० ॥

अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां घातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते ।  
यथा—हूमहे इत्यादिषु ॥ [ ४१ ] ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६।१।१२७ ॥

‘ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।’ ईषा अक्षा ईमिरे,  
इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः ॥ [ ४२ ] ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६।३।२६ ॥

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते । छित्वादान्त्यस्य  
स्थाने भवति । उ०—सूर्याचन्द्रमसौ घाता यथापूर्वमकल्पयत्; इन्द्रागृहस्पती  
इत्यादीनि ।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः । तद्यथा—

‘देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥’ अग्निवायू; वायवनी ।

‘ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥’ ब्रह्मप्रजापती; शिववैश्रवणौ; स्कन्दविशाखौ ।

सूत्रेण विहित आनङ्देशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको  
नियमः ॥ [ ४३ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७।१।८ ॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य भ्रकारप्रत्ययस्य रुढागमो विधीयते । उ०—देवा  
अदुह ॥ [ ४४ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७।१।१० ॥

अनेन वेदेषु भिन्नः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा—देवेभिर्मानुषे  
जने ॥ [ ४५ ] ॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाडयायाजलः ॥ ४६ ॥ अ० ७।१।३६ ॥

‘सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् ।’ ‘तिडां च तिडो भवन्तीति वक्तव्यम् ।’  
‘इयाडियाजीकाराणां सुपसंख्यानम्’ । इया—दार्विष्या परिज्मन् । डियाच्—सुमित्रिया  
न आप०, सुचेत्रिया; सुगातया ( सुगात्रिया ? ) । ईकार—इति न शुष्कं सरसी  
शयानम् । ‘आडयाजयारां चोपसंख्यानम्’ । आड्—प्रवाहवा । अयाच्—स्वप्नया  
वाच सेचनम् । अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया ।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ढ्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाधयारान्ता षोडशा-  
देशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । सुप्—ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान  
इति प्राप्ते । लुक्—परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते । पूर्वसवर्ण—धीति मती, धीत्या  
मत्या इति प्राप्ते । आत्—उमा यन्तारा, उमौ यन्तारौ इति प्राप्ते । शे—न युष्मे  
वाजयन्धवः, युयमिति प्राप्ते । या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते । डा—नाभा  
पृथिव्याः, नामौ इति प्राप्ते । ढ्या—अनुष्टया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते । याच्—  
साधुया, साधु इति प्राप्ते । आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ [ ४६ ] ॥

आञ्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ अ० ७ । १ । ५० ॥

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०—  
विश्वे देवाम आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं दैव्यासः । तथैवान्यान्यपि  
ज्ञातव्यानि ॥ [ ४७ ] ॥

भाषार्थ—( नित्यं संज्ञा० ) इस सूत्र से वेदों में अनन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय  
होता है ॥ [ ३३ ] ॥

( नित्यं ) इस मूत्र से यद्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीप् प्रत्यय नित्य होता  
है ॥ [ ३४ ] ॥

( भवे० ) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यन् प्रत्यय होता  
है ॥ [ ३५ ] ॥

इस सूत्र में आगे पादपर्यन्त सय सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये  
नहीं लिखे कि ये एक-एक बात के विशेष हैं, सो जिस-जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां-  
वहां लिखे जायेंगे ।

( बहुल० ) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में  
बहुल करके होता है । इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वाचिकं बहुत है, परन्तु  
विशेष है इसलिये नहीं लिखे ॥ [ ३६-३७ ]

( अनमन्ता० ) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता  
है ॥ [ ३८ ] ॥

( यद्वाया अपि० ) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझना चाहिये कि  
धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं ।  
जैसे 'ईद' धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है, और चोदना आदि भी  
समझे जावे हैं । इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञानना चाहिये ॥ [ ३९ ] ॥

( शेष० ) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है ॥ [ ४० ] ॥

( बहुलं० ) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है ॥ [ ४१ ] ॥

( ईपा० ) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है ॥ [ ४२ ] ॥

( देवताद्व० ) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे 'सूर्याचन्द्रमसौ०' यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वाचिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—'इन्द्रवायू' यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है ॥ [ ४३ ] ॥

( बहुलं० ) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'क्' प्रत्यय को 'कृट्' का आगम होता है ॥ [ ४४ ] ॥

( बहुलं ) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है ॥ [ ४५ ] ॥

( सुपां सु० ) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं ॥ [ ४६ ] ॥

( आज्ञे० ) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस है, उसको असुक् का आगम होता है, जैसे—'दैव्याः' ऐसा होना चाहिये 'बहां दैव्यासः' ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिये ॥ [ ४७ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७।३।६७ ॥

भाष्यम्—वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ [ ४८ ] ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४९ ॥ अ० ७।४।७८ ॥

अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥ [ ४९ ] ॥

छन्दसीरः ॥ ५० ॥ अ० ८।२।१५ ॥

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते। उ०—रेवान् इत्यादि ॥ [ ५० ] ॥

कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८।२।१८ ॥

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्।' कपिलका; कपरिका इत्यादीनि ॥ [ ५१ ] ॥

धि च ॥ ५२ ॥ अ० ८।२।२५ ॥

यसिभसोर्न' सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।

छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे ॥ १ ॥

उ०—[ इष्कर्तारमध्वरस्य ] । निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते । अप्राप्तविभाषेयम् ॥ [ ५२ ] ॥

दादेर्धातोर्धः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । ३ । ३२ ॥

'ह्रप्रहोऽछन्दसि ह्रस्व भत्वं वक्तव्यम् । उ०—गर्दमेन संभरति; मरुदस्य गृष्णाति ॥ [ ५३ ] ॥

मनुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्पमानायां कर्भवति । गोमः; हरिवः; मीहुवः ॥ [ ५४ ] ॥

वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥

वा शर्प्रकरणे खर्परं लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः । अनेन 'वायवस्थ' इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतःसामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥ [ ५५ ] ॥

भाषार्थ—( बहुलं ) इस मूल से वेदों में ईट का आगम होता है ॥ [ ४८ ] ॥

( बहुलं ) इस मूल से वेदों में धातु के अग्रास को इकारादेश हो जाता है ॥ [ ४९ ] ॥

( छन्दसीरः ) इससे वेदों में मनुप् प्रत्यय के मकार को यकारादेश हो जाता है ॥ [ ५० ] ॥

( सता० ) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है ॥ [ ५१ ] ॥

( यसि० ) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं छोप हो जाता है ॥ [ ५२ ] ॥

( ह्रप्रहो० ) इससे वेदों में ह्र और प्रहधातु के हकार को भकार हो जाता है ॥ [ ५३ ] ॥

( मनु० ) इससे वेदों में मनुप् और वसु के नकार को क होता है ॥ [ ५४ ] ॥

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥

बहुलवचनं किमर्थम् ? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'—तन्वीम्यः प्रकृतिम्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्'—प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । 'कार्यसशेषविधेश्व तदुक्तम्'—

कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्मीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि ? “नैगमरूढिभवं हि सुसाधु” — नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः<sup>१</sup> कथं स्युः ।

“नाम च धातुजमाह निरुक्ते” — नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । “व्याकरणे शकटस्य च तोकम्” — वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् ? “यत्र विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्” — प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या ।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद्विधादनुचन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

( बाहुलकं० ) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्ययाः भवन्ति, यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव ।

( किं पुनः० ) अनेनैतच्छब्दव्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः ? अत्रोच्यते—

( नैगम० ) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । ( नाम० ) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, ( व्याकरणे० ) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु [ निबं० २ । २ ] पठितत्वात् ।

( यन्न० ) यत् विशेषात्पदार्थान्च मय्यगुत्थिनमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहने क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह—संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः । ( कार्प्यादि० ) कार्प्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्प्यमुणादिषु बोध्यम् ॥ ५६ ॥

[ इति व्याकरणनियमविषय ]

भाषार्थ—(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था पाँधते हैं कि—( बाहुलकं ) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बाहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पड़े हैं, इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में ढेरकर समझ लेना चाहिये । जैसे 'ऋफिडः' इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये । तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं, उन में जितने कार्प्य सूत्रों करके होने चाहिये वे सब नहीं होते हैं, सो भी बाहुल ही का प्रताप है ।

( किं पुन० ) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्प्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि ( नैगम० ) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्प्य बाहुल्यचन से उणादि में होते हैं । जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं ।

( नाम० ) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहिये, तथा वैयाकरण जितने ऋपि हैं, उनमें से शाकटायन ऋपि का मत निरुक्तकारों के समान है, और इन से भिन्न ऋपियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रुढ़ी हैं ।

अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहा क्या करना चाहिये ? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी, और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी । इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये । और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्प्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी । जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में 'ज्' 'घ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना । यह कल्पना सर्वत्र



नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये ।

ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती । जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुँच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता । इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ॥ [ ५६ ] ॥

[ इति व्याकरणनियमविषयः ]

# [ अथालङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः ]



भाष्यम्—अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिखन्ते । तत्र तादृशमालङ्कारो  
व्याख्यायते—पूर्णोपमा चतुर्भिस्त्रयमेवोपमानवाचकमाधारणधर्मैर्भजति । अस्पोदा-  
हरणम्—म नः पितेव सूनवेऽग्ने मृषापनो भज ॥ १ ॥

उक्तानामेकैरुक्तोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र—वाचकलुप्तोदाहरणम्—  
भीम इव बन्धी भीमवली ॥ [ १ ] ॥ धर्मलुप्तोदाहरणम्—फलनेत्रः ॥ २ ॥  
धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्—व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तो-  
दाहरणम्—विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता  
॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आमासुदाहरणम्—  
कारुणालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । म चोपमानव्यामेदताद्रूप्याभ्यामधिकृत्यनोमय-  
गुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा । तत्र अधिकामेदरूपकोदा-  
हरणम्—अयं हि सविता साक्षादेन भ्रान्तं विनाश्यते । पूर्णत्रि इति शेषः ॥ १ ॥  
न्यूनामेदरूपकोदाहरणम्—अयं पतञ्जलिः माक्षाद्याप्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥  
अनुमयामेदरूपकोदाहरणम्—ईशः प्रजामत्यत्र स्वीकृत्य समनीतिनाम् ॥ ३ ॥  
अधिरुताद्रूपरूपकोदाहरणम्—विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं  
तदा ॥ ४ ॥ न्यूनताद्रूपरूपकोदाहरणम्—माग्नीयं सुरदा नीतिरसूयप्रमसा  
मता ॥ ५ ॥ अनुमयेताद्रूपरूपकोदाहरणम्—अयं घनाघृतात्सूर्योद्विधासूर्यो  
निभज्यते ॥ ६ ॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । म च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः,  
अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र [ १ ]—प्रकृतविषयस्योदाहरणम्—  
यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो  
यस्येति द्वारथां मयतः । यथा च श्वेतो धारति । अलंभुसानां यातेति । तथैव  
अग्निमीडे इत्यादि । [ २ ]—अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्—इग्निना त्वद्भूलं तुल्यं  
कृतिना हितयाकिना । अथ [ ३ ]—प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्—  
उचरन्भूरियानादयः शुशुभे बाहिनीपतिः ।

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति । सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ।

भाषार्थ—अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं । उन में से पहिले उपमालङ्कार के आठ=८ भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८ ॥ इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिस में ये सब बने रहते हैं । उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म । इनमें से 'उपमान' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है । 'उपमेय' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं । 'उपमावाचक' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे । 'साधारणधर्म' वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्तमान रहता है । इन चारों के वर्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वाक्त आठ भेद हो जाते हैं । पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि—'स नः पितेव०' जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करनेवाला है ।

इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छः भेद हैं—अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५, और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६ ॥ इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना । जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है, इत्यादि ।

तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है । उस के तीन भेद हैं—१ प्रकृत, २ अप्रकृत और ३ प्रकृताप्रकृतविषय । जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह श्लेष कहाता है । जैसे 'नयकम्बल' इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं । एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिसका ।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है । इस प्रकार के और भी बहुत अलङ्कार हैं, सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायेंगे ।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

क० मं० १ । सू० ८६ । मं० १० ॥

भाष्यम्—अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्थाद्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्ये-

ऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ।

[ इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः ]

भाषार्थ—( अदिति० ) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं । परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिखे जायेंगे । इस मन्त्र को पारंपार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायेंगे । वे अर्थ ये हैं— द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, रिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पृथ्वीजना, जात और जन्मत्व ।

[ इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः ]

---

# [ अथ ग्रन्थसङ्केतविषयः ]



भाष्यम्—अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्शयन्ते । ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः— ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः । तद्यथा—‘ऋ० १ । १ । १ ॥’; यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—‘य० १ । १ ॥’; सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—‘साम० पू० १ । १ । १ ॥’ पूर्वार्चिकस्यायं नियमः । उत्तरार्चिकस्य खलु—साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य ।

अत्रायं विशेषोऽस्ति । उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति । तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः । तद्यथा—‘साम० उ० १ । पू० १ ॥ साम० उ० १ । उ० १ ॥’ अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः । उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया । पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव । अथर्ववेदे अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—‘अथर्व० १ । १ । १ ॥’

भाषार्थ—अत्र वेदभाष्य में चारों वेद के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं । देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वहां ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १ सूक्त १ मन्त्र १ इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये । जैसे ‘ऋ० १ । १ । १ ॥’; इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना । जैसे—‘य० १ । १ ॥’; सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये । जैसे—‘साम० पू० १ । १ । १ ॥’ यह नियम पूर्वार्चिक में है । उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठक पर्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है । इसलिए प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० घरा जायगा । उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा । इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत

होने। साम० ३० १। पू० १॥; साम० ३० १। ३० १॥; इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क वाण्ट का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का ज्ञान लेना। जैसे—  
'अथर्व० १। १। १॥'

भाष्यम्—एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ० प्रथमांकः पञ्चिकाया, द्वितीयः कण्टिकायाः। तद्यथा—'ऐ० १। १॥'; शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्टस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्टिकायाः। तद्यथा—'श० १। १। १। १॥'; एवमेव मामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याग्रस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याभ्यं तस्य छा०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः सण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'छा० १। १। १॥'; एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा—'गो० १। १॥'

एवं पट्टशास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्, तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'मी० १। १। १॥'; द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं, तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'वै० १। १। १॥'; तृतीयं न्यायशास्त्रं, तस्य न्या०, अन्यर्द्धशेषिकवत्। चतुर्थं योगशास्त्रं, तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'यो० १। १॥'; पञ्चमं सांख्यशास्त्रं, तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'सां० १। १॥'; षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाग्रन्थं, तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य—'वे० १। १। १॥'

तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी, तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'अ० १। १। १॥' एतेनैव कृतेन सूत्रमङ्केतेन व्याकरणमहामाष्यस्य मङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्राष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तन्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते। तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सण्टस्य। निघण्टौ—'१। १॥' निरुक्ते—'१। १॥' सण्टाध्यायी द्वयोः ममानौ। तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य—'तै० १। १॥' इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं मङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु

लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

[ इति ग्रन्थसङ्केतविषयः ]

**भाषार्थ—**इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का—‘ऐ० १ । १ ॥’; शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क कारुड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का—‘श० १ । १ । १ । १ ॥’; सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस जिस का प्रमाण जहां लिखेंगे उस उसका ठिकाना वहां धर देंगे । जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड-का, तीसरा मन्त्र का । जैसे—‘छां० १ । १ । १ ॥’; चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है, उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे—‘गो० १ । १ ॥’ इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा ।

ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र, उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो—‘मी० १ । १ । १ ॥’; दूसरा वैशेषिक का वै० पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का । जैसे—‘वै० १ । १ । १ ॥’; तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का—‘यो० १ । १ ॥’; पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे—‘सां० १ । १ ॥’; छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से—‘वे० १ । १ । १ ॥’

तथा अङ्गों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे—‘अ० १ । १ । १ ॥’ इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का बचन लिखा करेंगे । उसी से उसका पता जान लेना चाहिये । तथा निघण्टु और निरुक्त में दो दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे । तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे । ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाय, जिस किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले । और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उनके प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ।

[ इति ग्रन्थसङ्केतविषयः ]

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुप्रमिका कामदा मान्यहेतुः ।

संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलाविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।

सम्पूर्णाकार्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः ।

पश्चाद्विज्ञानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।

पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्गोच्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

[ भाषार्थ— ] यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उन में क्या क्या विषय हैं, इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने-वाली है । इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे, उनका व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी । इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् रत्नाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है, इसमें मैंने मंत्रों से पूर्ण किया । अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूँ ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्यय, अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है । इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

य० २० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना  
विरचिता संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाण-  
युक्तग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥